नाच्यौ बहुत गोपाल :

दलित जीवन की अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता का प्रश्न

(एम. फिल. उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्ता
अजय कुमार नावरिया

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 67

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

DATED 23 July 2001

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled **"NACHYO BAHUT GOPAL : DALIT JEEVAN KI ABHIVYAKTI KI PRAMANIKTA KA PRASN"** submitted by me is original work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other university/institution.

Sign .....
NAME OF THE SCHOLAR :
AJAY KUMAR NAURIYA

Sign .....
Name of supervisor:
Pro. Manager Pandey
CIL/SLL/CS/J.N.U.

Sign .....
Pro. Manager Pandey
(Chairperson)
CIL/SLL/CS/J.N.U.

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

नाच्यौ बहुत गोपाल :

दलित जीवन की अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता का प्रश्न

प्रिय

कनिष्क

के

लिए

विषय सूची

		पृष्ठ संख्या
	भूमिका	1
1	दलित साहित्य का स्वरूप	7
	क. शूद्र से दलित : अन्तर्यात्रा अथवा यात्रा चक्र	8
	ख. दलित शब्द की व्युत्पत्ति	19
	ग. दलित साहित्य का चेहरा	21
	घ. दलित साहित्य का आरंभ एवं विकास	26
	ड. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र	29
2	दलित साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न	33
	क. दलित साहित्य और प्रामाणिकता	34
	ख. सहानुभूति बनाम स्वानुभूति	47
	ग. दलित साहित्य : अधिकार का प्रश्न	51
3	नाच्यौ बहुत गोपाल : प्रामाणिकता का प्रश्न	61
	क. नागर जी : आईने में (उपन्यासकार)	62
	ख. उपन्यास : संवेदना और शिल्प	70
	ग. उपन्यास : दलित जीवन के सत्य	86
4	निष्कर्ष	115

क से कबूतर

बहुत बचपन में मां ने कायदा पढ़ाते हुए सिखाया था **क** से कबूतर। आज वर्षों पर वर्षों की इतनी तह जम जाने के बाद भी जब किसी को मैं ककहरा सिखाता हूं तो **क** से कबूतर ही याद आता है। न **क** से कलम याद आती है न कसरत। कैसे जम गए हैं अवचेतन में ये तमाम शब्द। वहीं से आरंभ हुआ था, मेरा व्यवस्थित शैक्षणिक जीवन। मेरा यह लघु शोध-ग्रंथ भी उसी ककहरे के **क** से कबूतर की भांति है। **क** से कबूतर की यात्रा आज अनंत शब्दों के मध्य है। वह शब्दों भावों की मुंडेरो पर बैठता उड़ता आज तक निरंतर है। इसी प्रकार शोध की दिशा में मेरा यह पहला **क** है। पूरे ककहरे के लिए भविष्य का जीवन उत्तरदायी होगा।

अमृतलाल नागर जी से मेरा पहला परिचय उनकी रचना सुहाग के नुपुर (उपन्यास) के माध्यम से बी ए की शिक्षा के दौरान हुआ था। तब नागर जी का नाम मेरे जेहन में टंक गया था। सुहाग के नुपुर आद्यांत कई बार पढ़ा। यह बात लगभग 1990-91 की है। आज से पूरे दस वर्ष पूर्व। उसके एक डेढ़ वर्ष बाद ही मैंने उनकी एक अन्य रचना नाच्यौ बहुत गोपाल पढ़ी। मैं सुहाग के नुपुर की भाषा शैली पर पहले ही मुग्ध था और नाच्यौ बहुत गोपाल पढ़कर तो मैं उनका कायल ही हो गया। परंतु उपन्यास में दलित जातियों का वर्णन-चित्रण मुझे उन दिनों भी अखरा था। मैंने पैंसिल से अनेक स्थानों पर उपन्यास में मार्क लगाए। ये असहमतियों के चिन्ह थे। उपन्यास पूरा होने के बाद मैंने देखा कि यह असहमतियां सामान्य से अधिक थीं।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि तब तक मैं न तो दलित लेखकों के बारे में ही जानता था और न ही दलित साहित्य के बारे में। परंतु इसके बावजूद मैं उपन्यास से अनेक स्थानों पर असहमत था। मैं असहमत क्यों था? क्यों नहीं, मैं उन वर्णनों को उस समय अपने अन्य सहपाठियों की भांति सामान्य रूप में ले पाया था? यह मुझे सहज क्यों लगा था? मैं असहज क्यों हुआ था? संभवत: इस लघु शोध ग्रंथ की रचना-बीज का **क** वहीं है। यह **क** मेरा भाव-बोध था, जिसमें कालान्तर में संपूर्ण शोषित मानवता का भाव-बोध मिल गया था। दलित जातियों के चरित्र वर्णन से जहां मैं असहमत था वहीं उस से भी अधिक वे

जातियां ऐसी क्यों हो गईं कि पड़ताल का अभाव मुझे झकझोर गया। वास्तव में, यही पीड़ा मेरे लिए असह्य है। क्यों सवर्णों की नजर में दलित चोर असभ्य गंदे कुरूप तथा व्यसनी-व्यभिचारी हैं ? क्यों मनुष्य के एक बड़े हिस्से को सड़ने-गलने के लिए छोड़ दिया गया? ये कुछ ऐसे ही प्रश्न हैं जिन्हें मैंने अपने लघु शोध प्रबंध के माध्यम से उठाने का प्रयास किया है।

जैसा कि मैंने पहले कहा कि मैं नागर जी की कहने की कला से अभिभूत था। परंतु यह आभिभूत्य भी उनकी इस नाइंसाफी को ढंक न सका। नागर जी के उपन्यासों को मैंने चाव से पढ़ना शुरू किया। *नाच्यौ बहुत गोपाल* की बात समय के साथ आई गई हो गई। यह स्वाभाविक भी था। विचार भी परिवेश से ऊर्जा पाते हैं। मेरा अपना पारिवारिक परिवेश सरकारी अर्थों में साक्षरों का था। पिताजी मिडिल पास थे और मां अपने गांव में ककहरा ही सीखी थी। किंतु वे हमें पढ़ने को सदा प्रेरित प्रोत्साहित करते थे। हमारे बचपन में पिताजी पत्रिकाएं लाकर देते थे : परंतु ये पत्रिकाएं साहित्यिक न होती थीं। साहित्यिक पुस्तकों/पत्रिकाओं को पढ़ने का अवसर बी ए के दौरान ही मिला। नागर जी, मोहन राकेश जी मेरे प्रिय लेखक बन गए। नागर जी के *बूंद और समुद्र* को मैंने कई बार पढ़ा। *सेठ बांकेमल* और *अग्निगर्भा* भी ठीक लगा। परंतु *मानस का हंस* और *खंजन नयन* बहुत उबाऊ रचनाएं लगीं। उन्हें पढ़ने के लिए मुझे सालभर का समय लगा। वे मुझे क्यों उबाऊ रचनाएं लगी थीं। यह मैं नहीं जानता था। परंतु आज उसका कारण आज मेरे सम्मुख बिल्कुल स्पष्ट है। संभवतः मेरे विचारधारात्मक प्रस्थान का **क** से कबूतर वहीं सांसें ले रहा था।

जीवन विचित्रताओं और विडंबनाओं से भरा हुआ है। शिक्षा का अवसर कभी मिला : कभी छिना और अन्ततः आज लघु शोध प्रबंध के पड़ाव को भी पार कर गया हूं। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में अनेक रंग होते हैं। कई बार रचनाकार अपने या अपनी रचना किसी रंग से अपरिचित भी रह जाता है। आलोचनाएं, निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रह रहित आलोचनाएं व्यक्ति को उसके इस रंग से भी अवगत कराती हैं। आलोचना रचनात्मकता में भी परिष्कार लाती है। नागरजी के स्वभाव का एक नया रंग पाठकों के सम्मुख लाना भी मुझे अभीष्ट था। दलित साहित्य से मेरा विधिवत परिचय ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की आत्मकथा *जूठन* से हुआ। *जूठन* पढ़ने के पश्चात मुझे यह सारी व्यवस्था (ब्राह्मणवादी) विष्ठा के समान लगने लगी। नफरत और दुर्गंध से मेरे मुंह में

थूक भर आया। मैंने उन तमाम धर्मशास्त्रों पर जी भर कर थूका जिन्होंने इस अमानवीय एवं घृणास्पद जाति व्यवस्था को जन्म दिया था अथवा उसका पोषण किया। दलित साहित्य अपने आरंभ में इसीलिए नकार और गाली का साहित्य कहलाया। वस्तुत: यह दलित साहित्य की सीमा नहीं अपितु मानव - मनोविज्ञान की सीमा थी। आरंभ हमेशा लड़खड़ाहट से होता है। परंतु सतत अभ्यास और प्रशिक्षण इस लड़खड़ाहट को व्यवस्थित गति में परिवर्तित कर देता है। *जूठन* व्यवस्थित गति का प्रमाण है। *जूठन* पढ़ने के पश्चात *नाच्यौ बहुत गोपाल* और अधिक फीका, अवास्तविक, अप्रामाणिक और संदेहास्पद नजर आने लगा।

तत्पश्चात दया पवार जी की *अछूत* (बलुत) मोहनदास नैमिशराय जी की *अपने अपने पिंजरे,* शरण कुमार लिम्बाले की *अक्करमाशी* तथा बेबी कांबले की *जीवन हमारा* आदि आत्मकथाओं को पढ़ा गुना और अहसास करने लगा कि वास्तव में यही हमारा जीवन है। हमारा भी एक पिंजरा है जिसमें हम समाज की जूठन खाते हैं। हम अक्करमाशी हैं, हम अछूत हैं। यह हमारी पहचान है। परंतु हम ऐसे क्यों हुए ? क्या कोई स्वेच्छा से भी ऐसे जीवन का वरण करना चाहता है ? क्यों हम ऐसा बनने - होने पर विवश किया गया ? वे कौन लोग थे जिन्होंने ऐसा किया ? मेरे शोध प्रबंध में इसकी पड़ताल ही मुख्य विचार है। दलित साहित्य जीवन-ऊर्जा का साहित्य है। यह भविष्य के साहित्यिक धर्म की संभावनाओं के जीवित रहने की आश्वस्ति का साहित्य है। इस लघु शोध ग्रंथ को मैंने तीन अध्यायों के मध्य विभाजित किया है।

सर्वप्रथम अध्याय में मैंने दलित और दलित साहित्य के वर्तमान चेहरे के साथ-साथ अतीत के चेहरे को भी देखने-जाचने का प्रयास किया है। सम्मानजनक से अपमानजनक होने तक की दुखद यात्रा का सहयात्री हुआ हूं। कहावत मशहूर है कि गरीब की जोरू गांव की भौजाई होती है। गरीब और शोषित का अपना कोई नाम भी नहीं होता है और यदि होता भी है तो समाज के लिए वह मायने नहीं रखता। जिसे जैसा रूचता है उसे वह वैसे पुकार लेता है। अतीत में प्रदत्त नामों के साथ उसके (दलित) अपने लिए नाम के चयन की सूत्रबद्ध चर्चा भी इसी अध्याय में की गई है। साथ ही दलित साहित्य के आरंभ और विकास पर भी संक्षिप्त विमर्श किया गया है।

दूसरे अध्याय में दलित साहित्य के संबंध में छिड़े प्रमुख प्रश्नों पर एक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। क्या जन्मना दलित ही दलित साहित्य लिख सकते

हैं ? क्या गैर दलित (किंतु सवर्ण नहीं) दलित साहित्य नहीं रच सकते ? क्या स्वानुभूति का कोई प्रामाणिक आधार है ? प्रामाणिकता का शास्त्रीय आधार क्या है ? इन कुछ प्रश्नों - बिन्दुओं पर चर्चा भी इस अध्याय में की गई है। विभिन्न विद्वानों विचारकों के मतों को स्पष्ट किया गया है। यह विमर्श दलित साहित्य को आगामी रूपरेखा के लिए भी आवश्यक है। इस विमर्श के दौरान मुझे एक बात बहुत स्पष्ट लगी वह यह कि दलित साहित्यकार दलित साहित्य को जन्मना दलित का अधिकार मानते हैं, जबकि अधिकांश गैर दलित इसके विरोध में हैं।

तीसरे और अंतिम अध्याय में नागर जी के व्यक्तित्व तथा परिवेश की टोह लेते हुए आलोच्य उपन्यास की संवेदना और शिल्प पर प्रकाश डाला गया है। रचनाकार का व्यक्तित्व निज परिवेश तथा संस्कारों का भी प्रतिफलन होता है। इसी क्रम में, हम इस तथ्य से भी इंकार नहीं कर सकते कि व्यक्तित्व का प्रतिबिम्बन रचना में अवश्य होता है। अतः व्यक्तित्व पर विमर्श अनिवार्य था।

इसी अध्याय में दलित जीवन के सत्यों को उपन्यास में चिन्हित करने का प्रयास किया गया है। नागर जी कहां और कितने सफल रहे हैं और कितने असफल - इसकी पड़ताल भी यहां है। क्या नागर जी उपन्यास में दलित जीवन के वास्तविक और प्रामाणिक चित्र खींच पाए हैं ? क्या नागर जी की इस कृति को दलितों के लिए साहित्य की उपश्रेणी में रखा जा सकता है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर क्रमवार चर्चा करते हुए अंत में निष्कर्ष पर पहुंचे है। इसी क्रम में उपन्यास की मूल संवेदना का निर्धारण भी किया गया है। साथ ही अब तक प्रचारित धारणा कि नाच्यौ बहुत गोपाल दलित समाज की व्यथा-कथा है, का भी विस्तार से परीक्षण किया गया है। उपन्यास के, सत्य और जीवन के सत्य के मध्य अंतर को रेखांकित करना मुझे अनिवार्य सा लगा।

संस्कृत में एक श्लोक पढ़ा था, 'नमन्ति फलिनो वृक्षा, नमन्ति गुणिनो जना' आज लघु शोध प्रबंध की भूमिका को लिखते हुए वह सहसा स्मरण हो आया है। आदरणीय गुरू श्री मैनेजर पांडे जी के संबंध में उस श्लोक को स्मरण करते हुए उन्हें मैं शत-शत नमन करता हूं। विश्वविद्यालय में आने से पूर्व ही उनके नाम और कृतित्व से मैं अवगत था। उनके व्यक्तित्व की तेजस्विता और सादगी सहज ही सामने वाले को श्रद्धानत कर देती है। सादा जीवन, उच्च विचार की प्रतिमूर्ति हैं, वो उनको शोध निर्देशक के रूप में पाकर मेरा मन विभोर हो गया। उनके द्वारा दी गई स्वतंत्रता और अमूल्य समय राशि मेरे लिए अविस्मरणीय है।

दलित साहित्यकार श्री सूरजपाल चौहान जी का व्यक्तिगत सान्निध्य मेरा प्रेरणा स्त्रोत रहा। दलित साहित्य विषयक उनके विचारों की आभा ही मेरे लघु शोध ग्रंथ में झिलमिला रही है। उनके सहज स्नेह और आत्मीयता को शब्दबद्ध करना मेरी सीमा है। उनका निश्छल प्रेम और मार्गदर्शन शब्दातीत है। दलित साहित्यकार श्री श्योराज सिंह बेचैन जी और उनकी जीवन संगिनी सुश्री रजत रानी मीनू जी के सहयोग को ऋण नहीं कह सकता। ऋण कहना मेरी धृष्टता होगी उनके परामर्श की जीवन भर आवश्यकता है। पुस्तकों के लिए जे. एन. यू. तथा साहित्य अकादमी के पुस्तकालय आधार स्तंभ हैं। गौतम बुक सेंटर के कर्ता धर्ता श्री सुल्तान सिंह गौतम जी का सहयोग अविस्मरणीय है। दलित साहित्य का एक ही छत के नीचे इतना बड़ा भंडार उनकी अद्‌भुत कर्म कुशलता और समर्पण का परिचायक है।

मेरे परिवार के सभी सदस्यों की आकांक्षा और शुभकामनाओं का ही सुफल यह लघु शोध ग्रंथ है। मम्मी, पापा, भैया, भाभी की आशीर्वाद कामना, बेबी, बबली, रीतू की स्नेह भावना तथा रोहित-खुशी की शरारतें इस शोध लेखन में गुंथ गई हैं। जीवन संगिनी नीता के प्रेम और समर्पण तथा पुत्र कनिष्क प्रिय की अनवरत चुलबुलाहट भरी शरारतों की सुगंध ने इस शोध के श्रम को हर लिया है। शोध ग्रंथ को लगातार लिखने की प्रेरणा नीता न देती तो यह कैसे संभव हो पाता?

मेरी मित्र मंडली में पद्‌म परिहार के सहयोग का उल्लेख करना उसके साथ अन्याय होगा वह मेरा इतना अपना है कि उस पर लिखने का अर्थ मेरे लिए स्वयं पर लिखना है। जे. एन. यू. में एम. फिल. करने की सबसे बड़ी उपलब्धि ऐसा स्नेहिल, सच्चा और भातृवत मित्र पाना ही है।

वरिष्ठ साथियों में राजेश पासवान जी, दिनेश राम जी, कमलेश वर्मा जी, राजेश सुमन जी का मित्रवत सहयोग सुखद रहा। तनूजा रश्मि, श्रीश, शुचिता, सुनील, रामदर्शन, राकेश और सुशील कुमार भारती के प्रेम, स्नेह और अपनत्व भरे सुझावों/मशविरों के लिए उनका आभारी हूं। शोध लेखन के दौरान उनका प्रत्यक्ष/परोक्ष सहयोग मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। राजेन्द्र राजोरा तुम मेरे कौन हो ? जीवन में तुम्हारे योगदान का उल्लेख इसके निर्धारण के बाद ही संभव है। निस्संदेह तुम मेरे अभिन्न हो। मेरे **क** से कबूतर के साथी हो।

अंत में मैं अपने शिष्य सुनील शर्मा और उसकी बहन रचना शर्मा को आगामी जीवन के लिए शुभकामनाएं देता हूं (आशीर्वाद देने की स्थिति में अभी मैं नहीं हूं) कि वे जीवन से जो चाहें, उन्हें वह मिले। मेरी खराब हैंड राइटिंग को पढ़कर उन्होंने उसे फेयर किया है और मेरा समय बचाया है।

अविनाश वाचस्पति जी और पवन चंदन जी इस लघु शोध ग्रंथ को असमय कम्प्यूटरीकृत रूप में निकालने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। अविनाश जी मेरे कई अर्थों में वरिष्ठ भी हैं।

मेरा **क** से कबूतर अब आपके हाथों में है। मेरी ओर से यह शांति, समता, करूणा और प्रेम का संदेश है।

धन्यवाद,

अजय कुमार नावरिया
एम. फिल. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

दलित साहित्य का स्वरूप

क. शूद्र से दलितः अन्तर्यात्रा अथवा यात्राचक्र

ख. दलित शब्द की व्युत्पत्ति

ग. दलित साहित्य का चेहरा

घ. दलित साहित्य का आरंभ एवं विकास

ड. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र

दलित साहित्य का स्वरूप

दलित साहित्य क्या है? उसके लक्ष्य एवं प्रयोजन क्या हैं? उसके लक्षण या स्वरूप क्या है? इन तमाम प्रश्नों के निराकरण से पूर्व यह स्पष्ट कर लेना अधिक समीचीन होगा कि वास्तव में यह दलित कौन है? साहित्य का दालित्य, दलित साहित्य का स्वरूप कभी स्पष्ट हो सकेगा।

शूद्र से दलित : अन्तर्यात्रा अथवा यात्राचक्र

हिन्दू समाज व्यवस्था एक विचित्र एवं पेचीदा व्यवस्था है। स्थूलतः चार वर्णों, जिसे वर्ग कहना अधिक उचित प्रतीत होता है, में अनेकानेक जातियों का अस्तित्व अन्तर्गुंफित है। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण - ये हिन्दू समाज व्यवस्था की जाति व्यवस्था के घटक हैं। किंतु यह क्रम ऋग्वेद सूक्त (दशम् स्कंध) के क्रम से मेल नहीं खाता; जहां सर्वप्रथम 'शूद्र' शब्द का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के पैरों से, वैश्य की जंघाओं से, क्षत्रिय की भुजाओं से तथा ब्राह्मण की शरीर के सबसे शीर्ष एवं प्रमुख अंग सिर से की गई है।

ब्राह्मणोस्य मुखपासीद् बाहु राजन्यः कृतः ।
अरु तदम्य वैश्यः पाद्भ्या शूद्रो जायत । (ऋग्वेद 10,90-12)[1]

हिन्दू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का यही क्रम उनकी सामाजिक स्थिति का भी परिचायक है। ऋग्वैदिक काल 1600 ई.पू. तक माना जाता है। आर्यों का भारत आगमन 1600 ई.पू. में आरम्भ हो चुका था। आर्य मूलतः पशुचारी जनजाति थी। आर्यों के आगमन के समय भारत में एक उन्नत राज्य व्यवस्था पहले से कायम थी। आर्यों ने उनके प्रदेशों को जीता और उन्हें दास बनाया। "वेदों में अनेक स्तुतियां ऐसी हैं जिनमें इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे दासों का नाश करें। वेदों में यह भी उल्लिखित है कि इन्द्र ने, अधम दास वर्ण को गुफाओं में रहने को बाध्य कर दिया था"।[2] प्रारंभिक इतिहास वेत्ताओं का मानना था कि शूद्र आर्येतर समाजों से सम्बद्ध थे तथा इस वर्ण के लोग ही यहां के मूल निवासी थे, किंतु बाद की खोजों से यह एक भ्रामक धारणा साबित हुई।

वेदों में दस्युओं के प्रति दासों की अपेक्षा अधिक निर्ममता दृष्टिगत होती

है। उसमें वर्णित स्तुतियों में दस्युओं को मारकर आर्यवर्ण की रक्षा का इन्द्र से अनुरोध है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वेदों में इन्द्र द्वारा दस्युओं की हत्या की चर्चा अनेक स्थानों पर है किंतु दासहत्या शब्द कहीं नहीं मिलता। इस महत्वपूर्ण तथ्य से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि दास और दस्यु एक ही वर्ग नहीं था। यद्यपि उसे आरम्भ में एक मान भी लिया जाए तथापि कालांतर में उनके बीच एक लम्बा अंतराल आ गया था। आर्यों से युद्धोपरान्त आर्यो के रहन-सहन, संस्कृति तथा भाषा को स्वीकारने में दासों ने कोई आपत्ति नहीं की, जबकि दस्युओं ने उनसे युद्ध जारी रखा। इन युद्धों के लिए उन्हें वनों की शरण लेनी पड़ी। ऋग्वैदिक काल में आर्यों को दस्युओं से अनेक लड़ाइयां लड़नी पड़ी।

संभवत: यही कारण है दस्युओं के लिए वे अपशब्दों यथा अव्रत, अन्यव्रत, दुष्टात्मा, राक्षस, असुर आदि का प्रयोग करते हैं। अथर्व वेद में उल्लेख मिलता है कि दस्यु ईश्वर की भर्त्सना करते हैं इसलिए उनका वध कर देना चाहिए। आर्य ऐसा भी मानते हैं कि दस्यु यज्ञ धर्म में विश्वास नहीं रखते तथा उनमें मानवता नहीं होती। इस प्रकार कहा जा सकता है कि दस्यु मूल निवासियों का वर्ग तथा आर्यो की बहुत पहली आयी खेप थी, जो आर्यों के यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों में विश्वास नहीं रखती थी। किंतु दास दस्युओं की अपेक्षा आर्यों के तौर तरीके अधिक पसन्द करते थे तथा आर्यों से उनके सम्बन्ध भी अच्छे थें आर्यों के परस्पर संघर्ष में भी वे उनको सहयोग करते थे। ऋग्वेद के आरंभिक भाग में पांच प्रसंगों के हवाले से यह स्पष्ट होता है कि आंतरिक संघर्षों की परम्परा बहुत पुरानी थी। इसलिए आर्यो के समाज का जनजातीय आधार धीरे-धीरे कमजोर पड़ा और आर्य-दास विलयन की क्रिया को बल मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल में समाज का विभाजन तो था किंतु आपसी लोकाचार सामान्य थे। दस्युओं के मामले में जो कि धार्मिक रीति-नीति से भिन्न थे, यह कुछ कटुतापूर्ण थे, अन्यथा समाज में परस्पर व्यवहार अवश्य था। सम्पूर्ण विश्व में समाज विभाजन हुआ था और होता है। समाज के वर्गो का विभाजन सामान्यत: व्यवसाय और समान हितों के आधार पर होता है। ऐसा प्राचीन काल में भी हुआ। इन वर्गों की समान विशेषता यह थी कि ये अपने ही वर्ग के अंतर्गत वैवाहिक सम्बन्ध तथा भोजन कर सकते थे। प्राचीन फारस में - अथर्व, रथेष्ठ, वस्त्र्योफसुयंत और हुइति वर्ग थे। चीन में मज़दूर, किसान, शिल्पी तथा सभ्रांत - चार वर्गों में बंटा हुआ था। इसी तरह, प्राचीन यूरोप

में नोबल क्लर्जी, फ्री फार्मर तथा विलेन के रूप में वर्ग विभाजन था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के प्रथम मंडल में ऋषि दिवोदास, जो नाम से दास वर्ग से सम्बन्धित लगते हैं, का वर्णन तथा अंगिरस का कृष्ण वर्ण रूप में वर्णन मिलता है। ये घटनाएं यह तो स्पष्ट करती ही हैं कि ऋग्वैदिक काल के अंतिम चरण में आर्यों की संस्कृति में कुछ काले ऋषियों तथा दास पुरोहितों को भी मान्यता दी गई थी। साथ ही यह इस धारणा को भी पुष्ट करती है कि ऋग्वैदिक काल में समाज मुख्यतः आर्य तथा अनार्य दो वर्गों में ही विभक्त था किंतु कालांतर में चार्तुवर्ण्य व्यवस्था का उद्‌भव हुआ तथा उत्तर - वैदिक काल में यह सामाजिक वैषम्य बढ़ता ही गया।

शूद्रों का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? कुछ इतिहासकारों का मानना है कि शूद्र आर्य थे या आयों के आगमन से पहले की जनजाति थे। एक मान्यता यह भी है कि शूद्र पहले-पहल आए, कुछ आर्यों की जनजाति है। अथर्ववेद के आरंभिक भाग में शूद्र को जनजाति ही माना गया है। महाभारत में आभीरों के साथ शूद्रों की चर्चा बार-बार जनजाति के रूप में हुई है। इस महाकाव्य में शूद्र कुल का उल्लेख क्षत्रिय और वैश्य कुल के साथ हुआ है और शूद्र जनजाति का वर्णन आभीरों, दरदों, तुखारों, पहलवों आदि के साथ हुआ है। किंतु उपरोक्त दोनों विचारों को सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता। निस्संदेह यह अनुमान अधिक उचित प्रतीत होता है कि शूद्र भी आर्यो तथा मूल निवासियों के सामाजिक समागम अथवा युद्ध में हारे हुए लोगों की परिणति थे।

शूद्र अस्पृश्य कब हुए? इस प्रश्न का उत्तर हमें उत्तर-वैदिक काल तथा बौद्ध-जैन ग्रंथों के विवेचन से प्राप्त होता है। ईसा पूर्व 1000 से ईसा पूर्व 600 तक का कालखण्ड उत्तरवैदिक काल से उद्‌घोषित किया जाता है। यही काल ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों का निश्चित हुआ है। बुद्ध का जन्म 600 ईसा पूर्व निश्चित होता है। उत्तर-वैदिक काल में शूद्र का वर्णन मुख्यतः अनुचर वर्ग के रूप में हुआ है। उत्तर-वैदिक काल में अनेक जातियों यथा रथनिर्माता, बढ़ई, कुंभकार, लोहार, सर्राफ, चरवाहा, गडेरिया, किसान, मद्य-निर्माता, मछुआ, शिकारी, निषाद, किरात, पर्णक, पौल्कस तथा बैंद आदि का उल्लेख मिलता है। इन समस्त जातियों का समाज में सामाजिक स्तर काल-परिस्थितियों के अनुसार ऊंचा-नीचा होता रहता था। इन्हीं में कुछ जातियां कालांतर में अस्पृश्य तो हुई ही, साथ ही साथ सीमान्त भी हो गई। जहां ऋग्वैदिक काल में शिकारी [आखेटक]

तथा रथनिर्माता यज्ञों में भाग ले सकते थे अर्थात रत्निन कहलाते थे, उत्तर-वैदिक काल में वे भी अपवित्र हो गए। विनयपिटक में कृषि, व्यापार और पशुपालन को उच्च कोटि का माना गया था। इसी ग्रंथ में बढ़ई, भंगी, नलकार, कुंभकार, चम्मकार और नहापित को हीन कोटि का माना जाता था। प्राचीन पालि ग्रंथों में निषाद, चांडाल, वण, रथकार और पुक्कुस जातियों को नीच और हीन माना गया है। चांडाल जाति को तो स्पष्टतया अछूत बताया गया है। रामशरण शर्मा लिखते हैं -- ''चांडाल का शरीर स्पर्श करके आने वाली हवा दूषित समझी जाने लगी। यदि चांडाल भोजन या पेय सामग्री को देख ले तो उसे ग्रहण करना वर्जित था। एक जातक कथा में बताया गया है कि जब चांडाल शहर में प्रवेश करता था तो लोग उसे मार-मारकर बेहोश कर देते थे। निष्कर्षत: चांडाल दुखपूर्ण व गंदा जीवन व्यतीत करते थे।[3] किंतु चांडाल जाति एक अपवाद भी हो सकती है क्योंकि ब्राह्मण चांडालों से परम्परागत रूप से विद्वेष रखते थे। इसके मूल में दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यह 'अपवित्रता' की अति हो, न कि अस्पृश्यता। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान डा. अम्बेडकर का कहना है, ''चाण्डाल के प्रति जो व्यवहार किया जाता था, उस वर्णन के एक हिस्से से ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है कि फाहयान के समय अस्पृश्यता का अस्तित्व था। किंतु इस परिणाम को स्वीकार करने में एक कठिनाई है। कठिनाई इस कारण पैदा होती है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है, वह चाण्डालों के विषय में है। अस्पृश्यता का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व सिद्ध करने के लिए चाण्डालों का उदाहरण एक अच्छा उदाहरण नहीं है। ब्राह्मण चांडालों को अपना शत्रु समझते थे। उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे उन पर घृणित आचरण का आरोप लगाएं, उनके लिए अपमान सूचक शब्दों का प्रयोग करें और अपनी द्वेष भावना की शांति के लिए अनके प्रति एकदम बनावटी व्यवहार करें। इसके लिए जो कुछ भी चाण्डालों के बारे में कहा गया हो उस पर बहुत सोच-विचार कर विश्वास करना चाहिए।'' [4]

इसके लिए वे शूद्रक के काल में बाण द्वारा रचित कादम्बरी में वर्णित चाण्डाल कनया का दृष्टान्त उद्धृत करते हैं। बाण पहले चाण्डाल बस्ती का ऐसा कुरुचिपूर्ण बीभत्स वर्णन करता है कि जी मितलाने लगता है। वह साक्षात नरक का वर्णन था। आगे वह उसी बस्ती में से निकली चाण्डाल कन्या का राजा शूद्रक के महल में रूप-वर्णन करता है। वह रूप-वर्णन इस तरह का है मानो वह किसी

राजकुमारी का वर्णन कर रहा हो। इस उदाहरण से दो बातें सत्य प्रकट होती हैं। पहली, राजा के दरबार में चाण्डाल जाति के लोगों का आगमन निषिद्ध नहीं था अर्थात वे अस्पृश्य नहीं थे। यदि वे अस्पृश्य होते तो राजा के दरबार में उनका प्रवेश कैसे संभव था? दूसरी, बाण स्वयं ब्राह्मण था। ब्राह्मण होने के बावजूद वह चाण्डाल कन्या की रूपराशि का इस मंत्र-मुग्ध भाव से वर्णन करता है कि यह संभव प्रतीत नहीं होता कि वे अस्पृश्य थे। किंतु यह अवश्य माना जा सकता है कि चाण्डालों के प्रति अपवित्रता का भाव जुड़ा हुआ था। यह तथ्य बौद्ध धर्म में चाण्डालों की दीक्षा से भी स्पष्ट हो जाता है। उन्हें संघ में भिक्षु बनने की ही अनुमति नहीं थी अपितु निर्वाण योग्य भी बताया गया है।

डा. अम्बेडकर लिखते हैं, "क्या हम अस्पृश्यता की उत्पत्ति की तिथि निश्चित कर सकते हैं जो लगभग ठीक हो? मैं समझता हूं के यदि हम गो-मांसाहार से आरंभ करें तो हम कर सकते हैं। गो-मांसाहार ही अस्पृश्यता के मूल में निहित है। यदि हम गो-मांसाहार निषेध को अपने चिंतन की आधार शिला बनायें तो इसका महत्व होता है, कि अछूतपन की उत्पत्ति का गो-वध तथा गो-मांसाहार-निषेध से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए यदि हम यह बता सकें कि गो-वध किस समय एक अपराध बना? गो-मांसाहार किस समय पाप बना? तब हम अछूतपन की उत्पत्ति की एक ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं जो लगभग ठीक हो। गो-वध कब एक अपराध घोषित किया गया? हम जानते हैं कि मनु ने न तो गो-मांसाहार का निषेध किया और न गो-वध को अपराध ठहराया। फिर यह अपराध कब बना? जैसा कि डा. डी. आर. भण्डारकर ने स्पष्ट किया है कि चौथी ई. में किसी समय गुप्त नरेशों द्वारा गो-वध दण्डनीय अपराध घोषित किया। इसलिए हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि अस्पृश्यता का 400 ई. के आसपास किसी समय प्रादुर्भाव हुआ और बौद्ध धर्म के साथ संघर्ष से पैदा हुआ।[5]

परन्तु कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि निस्संदेह इस कारण आगे चलकर उनकी संख्या बढ़ी हो किन्तु यह उनकी उत्पत्ति की व्याख्या नहीं मानी जा सकती। गौतम धर्मसूत्र में अवश्य यह वर्णित है कि गो-वध एक अपराध है किंतु प्रायश्चित द्वारा उसका मोचन हो जाता है। अतः इस युग में ब्राह्मण समाज में गोमांस निषिद्ध नहीं था। एक अन्य मत यह भी है कि उच्च वर्ण के लोग जो आर्य होने का दावा करते थे, कुछ शिल्पों तथा व्यवसायों को

हेय समझते थे। इसलिए वे व्यवसायों को अपवित्र मानने के आधार पर अस्पृश्यता का उद्‌भव मानते हैं। एक अन्य मान्यता है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक कारण आदिम जातियों का संस्कार हीन-जीवन था, क्योंकि वे मुख्यतया शिकारी और बहेलिए के रूप में जीवन बिताते थे। उनकी तुलना में ब्राह्मण समाज के लोग धातुकर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे और नगर-जीवन का विकास कर रहे थे। यह सर्वथा ठीक है कि तत्कालीन समाज में गो-वध अथवा गो-मांसाहार निषिद्ध नहीं था किंतु तब तक अस्पृश्यता भी नहीं थी, वह साधारणतः स्वच्छता और स्वास्थ्य से जुड़ी पवित्रता ही थी। इस अर्थ में डा. अम्बेडकर का यह तर्क अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि कालांतर में [संभवतः गुप्त काल में, जो कि वैष्णव थे] गो-मांसाहार निरंतर रखने वाली जातियां [जिनमें अधिकांश बौद्ध थे] समाज में अस्पृश्य होती गई। दूसरा मत व्यवसाय आधारित अस्पृश्यता का है जिस पर पर्याप्त संदेह किया जा सकता है। व्यसाय के आधार पर उस समाज में चाण्डाल, आखेटक, पुक्कुस आदि जातियां ही शिकारी और बहेलिए के रूप में जीवन व्यतीत करते थे। किंतु अन्य बहुत सी जातियां तब भी सामाजिक शिल्पों से संबद्ध थीं। फिर वे भी क्यों अस्पृश्य हो गईं? इस प्रश्न का उचित उत्तर हमें उसी तर्क में मिलता है कि यह अन्ततः गो-मांसाहार और बौद्ध धर्म से संघर्ष का परिणाम है।

इस तर्क को और अधिक पुष्ट करने के लिए यहां दो भिन्न कालखण्डों में आए चीनी यात्रियों के यात्रा वृतांत कि विवरण का उल्लेख किया जा रहा है। फाह्यान नामक चीनी यात्री 400 ई. में भारत आया था। वह लिखता है, "इस [मथुरा] देश से दक्षिण तथा कथित मध्यदेश है। यहां की जलवायु उष्ण और समसीतोष्ण है। यहां न पाला पड़ता है, न बर्फ गिरती है। लोग समृद्धिशाली हैं। उन पर व्यक्तिगत कर नहीं है तथा दूसरी सरकारी पाबंदियों से भी मुक्त हैं। जो सरकारी जमीन जोतते हैं, उन्हें अपने लाभ में से एक भाग देना पड़ता है। यदि वे जोतते रहना चाहें तो जोतते रह सकते हैं। यदि बंद करना चाहें तो बंद कर सकते हैं। राजा बिना शारीरिक दण्ड के शासन करते हैं। अपराधियों को परिस्थिति के अनुसार हल्का या भारी जुर्माना किया जाता है। बार-बार विद्रोह करने पर भी केवल उनका दाहिना हाथ ही काटा जाता है।

राजा के दायें-बायें रहने वाले उसके अंग रक्षकों का निश्चित वेतन है। देशभर में चाण्डालों के अतिरिक्त कोई भी, न किसी जीव की हत्या करता है;

न सुरापान करता है और न लहसुन प्याज खाता है। चाण्डालों को कुपुरुष कहा जाता है। वे दूसरों से पृथक रहते हैं। यदि वे बस्ती या बाजार में प्रवेश करते हैं तो वे अपने आप को पृथक करने के लिए लकड़ी के टुकड़े से एक विशेष प्रकार की आवाज करते हैं। लोगों को उनके आने का पता चल जाता है, तो उनसे बचकर चलते हैं। चाण्डालों का काम केवल शिकार खेलना और मछली बेचना है।''[6]

दूसरा चीनी युवांग च्यांग था। उसका 629 ई. में भारत आगमन हुआ। भारत में वह सोलह वर्ष रहा और उसका समाज निरीक्षण अधिक गहन है। वह लिखता है, ''जिन बस्तियों और शहरों में वे रहते हैं उनकी चार-दिवारी और चौड़ी है किंतु टेढ़ी-मेढ़ी है। सड़कों पर दुकानें हैं। सड़क के किनारे-किनारे सरायें हैं। एक निश्चित पहचान द्वारा कसाई, धोबी, नाई, बधिक और भंगियों की बस्ती पृथक की गई है। वे शहर से बाहर रहने के लिए मजबूर किये जाते हैं। जब कभी उन्हें किसी घर के पास से गुजरना होता है तो वे बहुत बचकर और दबकर निकलते हैं।'' [7]

उपर्युक्त दोनों यात्रा विवरणों में एक तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से उभरकर आता है कि जहां फाहयान के आगमन के समय केवल चाण्डाल जाति नगर से दूर अपनी बस्तियों में रहती थी, वहीं युवांग च्यांग के विवरण में इसके अलावा अन्य जातियों को भी समावेशित कर लिया गया है। निष्कर्षत: हम पाते हैं कि अस्पृश्यता गुप्त काल के किसी समय में ही उद्‌भव हुई।

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी और मूकदर्शक रहा है कि एक बार अस्पृश्य हो जाने के बाद वे तमाम जातियां जो भारत की भौगोलिक सीमाओं में निवास करती थी शनै:-शनै: समाज से बाहर होती चली गई। हिन्दुओं के गांवों, शहरों, मंदिरों, धर्मशालाओं, पुण्यतीर्थों, मठों यहां तक की सड़कों के लिए भी वे अस्पृश्य हो गए। यह व्यवस्था [षड्‌यंत्र] इस तरह की गई कि समाज खाद्य श्रंखला की तरह हो गया, जहां प्रत्येक जाति को अपने से नीचे कुछ जातियों का शोषण पुश्तैनी रूप से मिलने लगा। कुछ जातियां अपने से उच्च जाति द्वारा हेय भी समझीं जाती किंतु अपने से निम्नतर जातियों के मध्य श्रेष्ठता-बोध उनकी वास्तविक समस्या को समझने का मौका ही नहीं देता था। वे इसे नियति मान चुके थे। धर्मशास्त्रों तथा धार्मिक पुरोधाओं ने मन पर तथा शासकों ने शरीर पर अपना आधिपत्य जमाकर भारतीय समाज को ''कोमा'' की स्थिति में रूपांतरित

कर दिया। भारतीय समाज इस स्थिति से कभी न उबर सका। यह विचित्र विडम्बना ही है कि इतना दमन, इतना शोषण, इतना संत्रास, इतनी पीड़ा किंतु फिर भी क्रांति नहीं। क्रांति तो दूर, कोई प्रतिकार तक नहीं। यह ऐसी कोई हल्की बात नहीं है कि इसे यूं ही खारिज कर दिया जाए और बहस आगे बढ़ जाए। विदेशी शासकों के शासन में निस्संदेह इस समाज-व्यवस्था में शिथिलता आई थी। हिन्दी साहित्य में संतों की वाणी में मुखरता और प्रखरता तथा सगुण भक्त कवियों में ईश्वर-आश्रय और अवतार मण्डन इन्हीं विदेशी शासनों से आयी शिथिलता की परिणति प्रतीत होती है। हिन्दू समाज के सर्वाधिक निचले तबके के लोगों ने अपनी संवेदनाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त करना आरंभ किया। यह साहस नहीं, उस काल-परिवेश में दुस्साहस ही था, जहां शास्त्र ज्ञान की बात करना भी जातिगत विशेषाधिकार था। यहां पर यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या अस्पृश्य जातियां गुप्तकाल के पश्चात भी हिन्दू धर्म की परिधि में रही? वे तो धर्म के अनुयायी होने तक के मूलभूत अधिकारों से वंचित थी। तब हम किस आधार पर उन्हें हिन्दू धर्म के भीतर रख सकते हैं। प्रख्यात उपन्यासकार प्रेमचंद स्वयं अपने लेख ''मंदिर प्रवेश का प्रश्न'' में लिखते हैं कि, ''महात्मा जी ने सबसे पहले हरिजनों के मंदिर प्रवेश का प्रश्न किया है। डा. अम्बेडकर ने महात्मा जी से इस विषय में मतभेद प्रकट करते हुए कहा है कि अछूतों को मंदिर प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि, साधारण हिन्दू उनसे सज्जनता का व्यवहार करे और उन्हें अपने बराबर समझे, लेकिन इसका प्रमाण क्या होगा कि हिन्दू किसी अछूत से सज्जनता का व्यवहार कर रहा है। खाने-पीने की सम्मिलित प्रथा अभी तक हिन्दुओं में नही नहीं है, अछूतो के साथ कैसे हो सकती है।'' [8]

इस लेख के आधार पर दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। प्रथम, अछूतों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार ही नहीं था। मंदिरों में प्रवेश के लिए भी इस पंचम वर्ण [तथाकथित हिन्दू] को ब्रिटिश शासन काल में संघर्ष करना पड़ा। सार्वजनिक कुंओं, तालाबों का पानी पीने तक के लिए उन्हें सिर फुड़ाने पड़े, जानें गंवानी पड़ीं। दूसरा, स्वयं प्रेमचंद जी जो प्रगतिशील लेखक माने जाते रहे हैं, वे भी हिन्दुओं को अछूतों से भिन्न मानते हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि अछूत हिन्दू ही नहीं हैं तो वे क्यों इस व्यवस्था को मानें?

डा. राम मनोहर लोहिया ने एक स्थान पर अपने लेख 'वर्ण संगठन और

शूद्र' में इसी संबंध में अपनी बेबाक टिप्पणी की है, ''कुछ लोग शायद सोचें कि जाति-पांति के कारण बंधे और गंदे पानी का पता जवान लोगों को तो लग ही चुका है। मुझे देश के अंदर और बाहर तीन-चार इलाकों का अनुभव है, जहां नेतृत्व की बागडोर जवान लोगों के हाथ में रही। बोलचाल में अच्छे और क्रांतिकारी सिद्धांतों पर बहस करने की क्षमता, और विषयों को व्यापकता की सतह पर उठाना, खास-खास मौकों पर हिम्मत भी दिखा जाना -- आदि नेतृत्व के गुण उनमें रहे। यह ऐसे गुण हैं जो कि द्विज संस्कार के साथ कुछ चिपटे हुए से हें और शूद्र के लिए इस होड़ में पार पा जाना प्रायः असंभव है। लेकिन जिन तीन-चार इलाकों में जवान द्विजों का नेतृत्व रहा, वहां की राजनीति कोई पलटा न खा सकी। इसका कारण साफ है, देश में चाहे जितने दल हों और उन सबकी आपस में कहा सुनी हो, गाली-गुप्ता हो और भले वे मार-पीट पर उतर जाएं, चाहे वे पूंजीशाही दल के हों अथवा समाजवाद के उन सबमें एक अचेत मिलन है क्योंकि उन सबके नेता द्विज हैं। 8-9 करोड़ द्विज एक तरफ और 20-22 करोड़ शूद्र दूसरी तरफ। इन दोनों के बीच खाई इतनी जबरदस्त है कि अभी तक कोई राजनीतिक दल

इसको पाटने के काम में नहीं लग सका। किसी की राजनीति का पता उसके दिन के काम से नहीं लगता, उसके भाषणों और लेखों से भी नहीं, लेकिन शाम के बाद वह कहां उठता-बैठता है और किनके साथ हंसता-खेलता है, इससे उसकी राजनीति दिखती है।'' [9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारत में इस वर्ण को अपनी स्थिति सुधारने में अथक प्रयत्न करने पड़े। दक्षिण में ज्योतिबा फुले, रामास्वामी पेरियार तथा प्रख्यात विद्वान डा. भीम राव अम्बेडकर के जी-तोड़ प्रयासों के फलस्वरूप तथा अंग्रजों एवं उदारमना हिन्दू समाज के व्यक्तियों के सहयोग से इस वर्ण की स्थिति में किंचित सुधार अवश्य आया। हम इस तथ्य से इंकार कतई नहीं कर सकते कि अंग्रेजों का भारत आगमन इस वर्ण के हित में अवश्य रहा। निस्संदेह ब्रिटिश शासन का व्यापारिक एवं औपनिवेशिक दृष्टिकोण था किंतु साथ ही इस औद्योगिकरण के चलते भारतीय समाज में किसान वर्ग जो पहले से पीड़ित और शोषित था, श्रमिक के रूप में परिवर्तित

हो गया। डा. नरेन्द्र सिंह अपनी पुस्तक ''दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया'' के अन्तर्गत 'बंधुआ मजदूर' उपशीर्षक में लिखते हैं, ''अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत के गांव अपने आपमें लगभग एक स्वतंत्र इकाई थे। प्रत्येक भारतीय गांव आत्मनिर्भर था। भारतीय ग्रामीण जीवन सीधा-सादा था। कृषि पर आधारित होने के कारण अधिकांश ग्रामीण केवल खेती करते थे। अकाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक तबाहियों से जब उनकी खेती चौपट होती तो उनके रहन-सहन का ढंग भी तत्काल बदल जाता था। ऐसे में हस्त शिल्पकारों को कहीं दूर जाकर कमाने की आवश्यकता होती थी और जमीन से न बंधे होने के कारण वे जहां चाहे जा भी सकते थे परन्तु ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा लोग अपनी जमीन पर खेती करना चाहते थे ओर जमीन की कोई कमी न थी।

डा. सिंह का यह कथन इस अर्थ में औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है कि अंग्रेजों के भारत आगमन ने दलितों की समस्या बढ़ाने में बुनियाद का काम किया। यह सर्वथा ठीक है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय ग्राम स्वतंत्र और आत्मनिर्भर इकाई थे किंतु इस स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता का स्वरूप क्या था? यह एक विचारणीय प्रश्न है। भारतीय ग्राम जाति-व्यवस्था के विकृतम और अमानुषिक व्यवहारों के जीवंततम उदाहरण थे। ग्रामीण पुरोहित तथा जमींदार मिल कर पूरे गांव के किसानों का दैहिक, मानसिक शोषण करते थे। ग्रामीण दलित न्याय की गुहार भी नहीं लगा सकते थे। सवर्णों के लिए अवर्णों तथा तथा विशेषत: दलितों के जीवन का मूल्य किसी कीट-पतंगों से अधिक नहीं था। पता नहीं किस अर्थ में डा. सिंह भारतीय ग्रामीण जीवन को सीधा-सादा कहते हैं? पिछड़ी जातियों यथा कुर्मी, कहार, दारोगा, ठाकुर, नाई, सुनार, लुहार, गुर्जर, गडरिये की औरतों लड़कियों का अप्रत्यक्ष अथवा लोभ-लालच देकर शारीरिक शोषण तथा निम्नतम जातियों की स्त्रियों का प्रत्यक्ष बलात्कार नंगाकर गांव भर में घुमाना इसी सीधे ग्रामीण समाज की घटनाएं हैं। अभी हाल ही में अखबारों में राजस्थान के एक दलित परिवार की खबर छपी थी जिसमें गांव के सवर्णों ने एक बेटे को उसकी मां के साथ संभोग करने पर विवश किया। यह उसी सीधे-सरल ग्रामीण समाज की विकृत मानसिकता का ताजा उदाहरण है। अनेक ग्रामीण कहावतें इसी व्यवस्था का परिचय देती हैं।

यदि भारतीय ग्राम सादगी के प्रतिमूर्ति रहे भी तो यह उनकी विवशता थी, स्वेच्छा नहीं। गांव के जमींदारों और पुरोहितों के यहां खाने-पीने से लेकर पहनने

ओढ़ने तक में कोई सादगी दिखाई नहीं देती । वेश्याओं के नृत्य, मद्यपान आदि तमाम सामंती व्यवहार वहां सदा से रहे हैं। फिर भी यदि हम भारतीय ग्रामों में सादगी के दर्शन करते हैं तो वह पिछड़े वर्गों का तथाकथित निम्नतम जातियों में दिखाई देती है। किंतु वहां वह स्वेच्छा नहीं है, साधनाभाव है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अच्छा दिखना चाहता है। किंतु जब सीधे-सरल समाजों में नए कपड़े अथवा सफेद कपड़े पहनने पर तथाकथित उच्च जातियों के लोग कपड़े फाड़ दें या पीटने लगें तो यह इच्छा ही दफन हो जाती है। कालांतर में पीढ़ियों में यह दमन संस्कार का रूप ले लेता है।

भारत में शूद्र वर्ग को अधिकांश शिक्षा से दूर कर दिया गया। कुछ जातियों ने विदेशी शासनों के दौरान जरूर अपनी स्थिति में सुधार किया किंतु अधिकांश हेय और अस्पृश्य बने रहने के लिए बाध्य रही। शूद्रों का एक बड़ा वर्ग ही कृषि कार्य में लगा। जमीनें राजा अथवा जमींदार की सम्पत्ति होती थी। लगान न दे पाने की स्थिति में उन्हें बेदखल कर दिया जाता था। बेदखली से बचने के लिए उन्हें स्वयं को बंधक रखने के लिए बाध्य किया जाता था। महाजनों की सहायता से जमींदार किसानों को भूमिहीन बंधुआ मज़दूर बना लेते थे। इन भूमिहीन बंधुआ मजदूरों में अधिकांश दलित जातियों के लोग थे और हैं। ब्रिटिश शासन में वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा ने लिया जिससे दलित किसानों को अपनी आर्थिक स्थिति सुधाारने का अवसर मिला, अन्यथा पूर्व प्रचलित व्यवस्था में तो वह कभी भी स्वतंत्र न हो पाते। आर्थिक दशा सुधारने का सीधा सम्बन्ध मानसिक स्तर तथा आत्म सम्मान के विकास से है। किंतु भारतीय महर्षियों ने जनसंख्या के बहुलांश को पशुवत बनाए रखने में अपनी सारी प्रतिभा का प्रयोग किया। आज भी बहुधा लोग कहते हैं कि प्रतिभाएं कुलीन परिवारों में उत्पन्न होती हैं। विचारक प्लेटो का भी यही मानना था कि सत्ता कुलीनों अथवा अभिजातियों के हाथ में होनी चाहिए क्योंकि प्रतिभाएं वहीं उत्पन्न होती हैं। भारतीय समाज में ये कुलीन वर्ग, ''द्विज वर्ग'' है। यह अर्द्ध सत्य है क्योंकि प्रतिभाएं तो ऊन्य वर्गों में भी उत्पन्न होती हैं परन्तु उन्हें विकसित नहीं होने दिया जाता। असाधारण प्रतिभाओं तक को भारतीय द्विज समाज ने भस्मीभूत कर दिया। इसके साहित्य तथा इतिहास में अनेक दृष्टांत हैं। ब्रिटिश शासन के दौरान ही क्रांतिचेता विद्वान डा. बी. आर. अम्बेडकर के अभ्युदय ने युगों से पाषाण निस्पंद दलित जीवन को जीवंत कर दिया। सन् 1920 में डा. अम्बेडकर ने अपने समाचार-पत्र 'मूक नायक' के

संपादकीय में लिखा था कि स्वराज में दलितों पर गैर दलितों का राज स्थापित न हो जाए? इस प्रकार हम देखते हैं कि वह क्रांतिचेता प्रकाश पुरुष आरंभ से ही इस सारे गड़बड़झाले को देख समझ रहा था। श्री एम. के. गांधी द्वारा प्रदत्त 'हरिजन' शब्द बाबा साहेब अम्बेडकर ने नकार दिया और इसके स्थान पर 'दलित' शब्द का प्रयोग ही उचित ठहराया। सन् 1927 में 'बहिष्कृत-भारत' में उन्होंने लिखा था, "जिसने पहली बार हमें अछूत कहा था, उसकी जीभ उसी समय काट दी होती तो आज हमें कोई अछूत नहीं कहता।" किंतु भारतीय समाज में इसके एकदम विपरीत हुआ और तथाकथित अछूतों के अंग-भंग होते रहे। इस कृत्य में बुद्धिजीवी समाज या तो मौन रहा या सक्रिय रूप से योगदान करता रहा। डा. अम्बेडकर ने विश्व के सर्वाधिक बड़े प्रजातांत्रिक देशों में से एक भारत को संविधान दिया। उनका दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट और मानववादी था। इस उपक्रम से स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलितो में भी एक प्रबुद्ध तथा संपन्न वर्ग उत्पन्न हुआ है जो शिक्षा से राजनीति और इतिहास से संस्कृति तक के दायरों पर साधिकार बहस करने की क्षमता रखता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह यात्राचक्र जो ऋग्वैदिक काल में 'शूद्र' से प्रारंभ हुआ था, अम्बेडकर काल में वापस दलित की सम्मानजनक स्थिति तक पहुंच गया। जैसा कि हमने आरंभ में ही स्पष्ट किया कि शूद्रों को प्रारंभ में समाज के सभी कार्यों में सम्मिलित किया जाता था। यज्ञों आदि अनुष्ठानों में भी वे सक्रिय भाग लेते थे तथा स्वयं आयोजित भी करते थे। शूद्र शासक भी थे और एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था के स्वामी भी रहे। किंतु कालांतर में वे अस्पृश्य हुए और अपने सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अधिकार खोते चले गए। एक समय ऐसा भी आया कि वे पशुओं से भी हीनतम स्थिति में पहुंच गये। तत्पश्चात शनैः-शनैः संघर्ष करते रहे और आज फिर वे अपेक्षाकृत अधिक सम्मानजनक स्थिति में पहुंच गये हैं। वे प्रशासन, राजनीति, सेना तथा अन्य सभी सार्वजनिक स्थलों पर समानतापूर्वक अधिकार रखते हैं।

दलित शब्द की व्युत्पत्ति

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल को श्रम-विभाजन पर आधारित समाज में सम्मानित शूद्र कालांतर में अपनी विभिन्न स्थितियों, स्तरों से गुजरते हुए आज 'दलित' की सम्मिश्रित अवस्था से गुजर रहा है। यह अन्त नहीं है; अन्त हो भी नहीं सकता। जब तक जीवन है, मनुष्य है, तब तक परिवर्तन है। यह संक्रमण

काल है। किंतु दलित शब्द आज किन समाजों द्वारा स्वीकृत है, इसकी पड़ताल आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर दलित शब्द की परिभाषाओं में निहित है। आइए कुछ परिभाषाओं और इसके व्युत्पत्तात्मक अर्थ में इसका विश्लेषण करें।

'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'दल' धातु से हुई मानी जाती है। संस्कृत शब्द-कोशों के आधार पर 'दल' शब्द के निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते हैं --

1. दल [अक.] विकसना, फटना, खण्डित होना।

2. दल [सक.] टुकड़े करना, विदीर्ण करना।

इसी तरह हम हिन्दी शब्द-कोशों में दलित शब्द के लिए मर्दित, कुचला हुआ, दबाया हुआ, खण्डित, फाड़ा हुआ, विनष्ट किया हुआ आदि अर्थ पाते हैं। किंतु हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि 'दलित' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मराठी परिवेश में हुआ । दलित आंदोलन का सूत्रपात भी व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम मराठी भाषा और परिवेश में हुआ। प्रत्येक भाषा में शब्दों की अपनी एक अर्थवत्ता होती है। ऐसा माना जाता है कि 'दलित' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1919 के आसपास हुआ। ब्रिटिश शासन ने जिन जातियों को 'डिप्रेस्ड क्लासेज़' कहा वही कालांतर में दलित कहलाई डा. म. न. वानखेड़े के अनुसार, ''दलित संज्ञा की परिभाषा में केवल बौद्ध या पिछड़े वर्गीय जन ही नहीं हैं अपितु जो शोषित श्रमजीवी हैं वे सब दलित संज्ञा में समाविष्ट होते हैं। [11] निस्संदेह यह परिभाषा मानववादी है किंतु समस्या आधारित नही है। इसमें अतिव्यक्ति दोष तो है साथ ही साथ यह पापों से मुक्त हो जाता है। ''जाति आधारित समाज की विसंगति, विडम्बनाओं पर पर्दा डालती है। जहां एक ब्राह्मण निकृष्ट होने पर भी पूजनीय है वहीं शूद्र विद्वान होने पर भी हेय है। मनुस्मृति इसकी धार्मिक व्यवस्था करती है। उसके अनुसार, ''कोई भी ब्राह्मण जिसने चाहे तीनों लोकों के मनुष्यों की हत्याएं क्यों न की हों, उपनिषदों के साथ-साथ ऋक्, यजु या सामवेद का तीन बार पाठ कर सभी पापों से मुक्त हो जाता है। [12] [11.261.62]

नारायण सुर्वे के अनुसार, ''दलित शब्द की मिलीजुली कई परिभाषाएं हैं। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं है । समाज में जो भी पीड़ित है, वे सभी दलित हैं। सुर्वे जी का मत उचित माना जा सकता है किंतु यह तभी संभव है जबकि भारत में जाति व्यवस्था के विकराल अजगर को

अनदेखा कर दिया जाए। भारत में शोषक और शोषित का स्वरूप वैसा सरल नहीं है जैसा अन्य देशों में दृष्टिगोचर होता है। डा. अम्बेडकर ने इस व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सम्पादकीय में लिखा था कि भारतीय जाति व्यवस्था एक ऐसी बहुमंजिला इमारत की तरह है जिसमें सीढ़ियां नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य जिस मंजिल [जाति] पर पैदा होता है वहीं मरता है। मनुस्मृति एक पूरे वर्ग [ब्राह्मण] के हितों के लिए आंख मूंदकर विवेकहीन व्यवस्था करती है, जिस प्रकार शास्त्र विधि से स्थापित अग्नि और सामान्य अग्नि, दोनों ही श्रेष्ठ देवता है, उसी प्रकार ब्राह्मण चाहे मूर्ख हो या विद्वान दोनों ही रूपों में श्रेष्ठ देवता है। [14] [9.317. 30]

'दलित' को परिभाषित करते हुए केशव मेश्रामजी कहते हैं, "हजारों वर्ष जिन लोगों पर अन्याय हुआ ऐसे अछूतों को दलित कहना चाहिए। [15] मेश्रामजी की परिभाषा उचित तो है किंतु जहां वानखेड़े जी की परिभाषा में अतिव्याप्ति है, वहीं मेश्रामजी की परिभाषा में अतिसंकोच है।

उपरोक्त विश्लेषण के आलोक में हम 'दलित' उसे मान सकते हैं जिसने जाति-व्यवस्था के तथाकथित निम्नतम शूद्र वर्ग में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दैहिक, मानसिक अथवा आर्थिक शोषण झेला हो। इस वर्ग से भूमिहीन बंधुआ मजदूरों, आदिवासियों तथा खानाबदोश जातियों को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

दलित साहित्य का चेहरा [स्वरूप] क्या है

दलित साहित्य प्रारंभ से ही विवादों में घिरा रहा है। इसकी स्वतंत्र अस्मिता प्रश्नों के कटघरों से दो-चार होती रही है। भारतीय समाज ने जिस तरह 'दलित' का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया था, उसी तरह दलित साहित्य को भी इसने नए-नए तरीकों से अस्वीकार करने का प्रयास किया। स्वीकार-अस्वीकार के इस पूरे उपक्रम में कुछेक सवाल बहुत तीव्रता से और दीर्घ समय तक उठे।

दलित साहित्य क्या है? क्या गैर दलित द्वारा लिखित दलित विषयक साहित्य दलित साहित्य नहीं है? क्या दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है, गैर दलित नहीं? क्या दलित साहित्य नकारात्मक साहित्य है? क्या दलित साहित्य गालियों का साहित्य है? इन प्रश्नों पर लंबी बहसें छिड़ीं, विमर्श हुआ और शनैः शनैः एक स्पष्ट रूपरेखा दिखाई पड़ने लगी। हिन्दी साहित्य जगत के प्रखर आलोचक तथा विचारक प्रो. मैनेजर पांडे ने दलित साहित्य के विषय में एक

O, 152, 3, N/6, 14: g(Y, 5927) 152 PI
TH-9139
Jawaharlal Nehru University Library

अपूर्व समीक्षा करते हुए कहा है, ''हिन्दी के दलित साहित्य की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि वह आरंभ से ही अभिजात्य और कलावादी या कहिए कि वर्णवादी आलोचना और नासमझी का शिकार हो रहा है। लेकिन यह सही है कि हिन्दी का दलित साहित्य अपनी आरंभिक अवस्था में है। मैं उसकी तुलना भारतेन्दु युग से करता हूं। आश्चर्य की बात यह है कि हिन्दी के कुछ प्रतिष्ठित लेखक और आलोचक दलित साहित्य को कला की दृष्टि से हीन कहते हैं। यह बात उसी तरह की है जैसे कोई आलोचक भारतेन्दु युग की हिन्दी कविता में निराला की खोज करे और वहां वैसी कविता न पाकर निराश हो। [16] इसी क्रम में वे आगे अपने विचार मुक्ता प्रकट करते हुए कहते हैं कि ''दलित आंदोलन'' से पूरे हिन्दी समाज के विकास में मदद मिलेगी, क्योंकि उससे पूरे हिन्दी समाज में जो जातिवाद, रूढ़िवाद, जड़ता और मानसिक पिछड़ापन है, वह सब घटेगा और मिटेगा। इसके अलावा हिन्दी समाज का एक बड़ा हिस्सा, जो पहले बेजुबान था, अब अपनी भावनाओं और समस्याओं को पूरी सच्चाई और तीव्रता के साथ सामने रखेगा। उससे हिन्दी साहित्य में एक नए ढंग का ऊर्जावान साहित्य विकसित होगा। यही नहीं, इससे हिन्दी साहित्य की भाषा में भी एक सार्थक मोड़ आएगा और जो भाषा आज तक शहरी मध्यवर्ग की भाषा बनकर रह गई है, वह व्यापक जनजीवन की भाषा बनेगी। मुझे यह भी लगता है कि आज का हिन्दी साहित्य जितना पश्चिम की ओर देखता है, उतना अपने देश के गांवों की ओर नहीं। हिन्दी साहित्य की इस पश्चिमोन्मुखी प्रवृति के सामने, दलित साहित्य एक संभावनापूर्ण चुनौती के रूप में होगा, जो हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा के संवेदनशील रचनाकारों को भी इस देश में व्यापक जनता से जोड़ने की प्रेरणा देगा। [17]

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक विद्वान विचारक दलित साहित्य के आरम्भ एवं विकास पर आश्वस्त तथा आशावान है।

आइये अब हम क्रमवार इन प्रश्नों की समीक्षा करें। सर्वप्रथम दलित साहित्य क्या है? जैसा कि हमने पहले भी स्पष्ट किया है कि हिन्दी में दलित साहित्य की परम्परा किसी न किसी रूप में मराठी दलित साहित्य से अवश्य जुड़ती है। अतः यह औचित्यपूर्ण होगा कि हम पहले मराठी भाषा के दलित साहित्यकारों के दलित साहित्य विषयक विचारों से अवगत हों। दलित साहित्यकार बाबूराव बागुल के अनुसार, ''दलित साहित्य वह लेखन है जो वर्णव्यवस्था के

विरोध में और उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्य से प्रतिबद्ध है। वर्णव्यवस्था अर्थात द्वेष, शत्रुता, मत्सर, तिरस्कार की भावना। इसके विपरीत मूल्य अर्थात प्रेम, बंधुत्व, समता, भ्रातृभाव पूर्ण शांति और समृद्धि। दलित शब्द से अनेक प्रकार के बोध होते हैं जैसे दुखबोध, अपमान बोध, दैन्य दासत्व बोध, जाति वर्ण बोध, विश्व बंधुत्व बोध और क्रांतिबोध।''[18]

दलित साहित्यकार डा. लिम्बाले के मतानुसार, ''दलितों का दुख, परेशानी, गुलामी, अध:पतन और उपहास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक शैली से चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। आह का उदात्त स्वरूप अर्थात साहित्य। हर एक मनुष्य को स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और भयमुक्त सुरक्षा मिलनी चाहिए इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित एक प्रवृति साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रवृति का नाम दलित साहित्य है। दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र मानता है। मनुष्य के सुख-दुख से समरस होता है। मनुष्य को महान मानता है। मनुष्य को सम्यक क्रांति की ओर ले जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्य बंधुता, समता और मानवता का साहित्य है। आइए हिन्दी जगत के कतिपय विद्वानों के मनों को भी इस तराजू पर तौल लिया जाए। दलित साहित्यकार ओमप्रकाश बाल्मीकि के कथनानुसार, ''दलित साहित्य एक दलित, अछूत या शूद्र का साहित्य नहीं है। दलित साहित्य अपने आप में बेहद व्यापक अर्थ रखता है। 'दलित' शब्द के भीतर छिपा गूढ़ अर्थ जिस भाव की व्याख्या करता है, वह एक पहचान है, उन लोगों की जो सदियों से दबे कुचले प्रताड़ित, उपेक्षित लोग हैं। जिन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में अपनी रचनात्मकता, दृढ़ता और मौलिकता स्वयं सिद्ध की है। इस देश के निर्माण में जिन्होंने अपना जीवन स्वाहा किया है।'' [20]

बाल्मीकि जी ने बहुत ही व्यवस्थित एवं सुविचारित ढंग से दलित साहित्य के स्वरूप एवं उद्देश्य को परिभाषित किया है। उनका यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि दलित शब्द का गहरा अभिप्राय है। उसकी एक विशिष्टता है। वास्तव में देश के निर्माण में जिन्होंने अपना जीवन स्वाह कर दिया, वही जीवन दलित साहित्य का कर्मक्षेत्र तथा रचनाक्षेत्र है। दलित चिंतक कंवल भारती जी दलित साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''न तो वह [दलित साहित्य] किसी को नाराज़ करने के लिए अस्तित्व में आया है और न किसी के नाराज़ हो जाने से उसका अस्तित्व खतरे में पड़ने वाला है।''[20] कंवल भारती जी स्पष्ट

तौर पर इसे केवल दलितों द्वारा लिखा हुआ स्वीकार करते हैं, जबकि बाल्मीकि जी इसमें अधिक उदार होते हुए इसको एक व्यापक अर्थ में लेते हैं। यदि सूक्ष्मता से इन दोनों कथनों का अवलोकन किया जाए तो हम दोनों में एक साम्यता अवश्य पाते हैं। बाल्मीकि जी के ''सदियों से दबे, कुचले, प्रताड़ित, उपेक्षित लोग जिन्होंने देश के निर्माण में अपना जीवन स्वाहा कर दिया''वही हैं जो कंवल भारती जी के कथनानुसार दलित हैं। ऋग्वैदिक युग के दास-दस्यु, उत्तर वैदिक काल के शूद्र, गुप्तकाल के शिल्पकार, सामंतकाल के अस्पृश्य, अंग्रेजी शासन के हरिजन तथा अम्बेडकर युग के दलित एक ही चिरंतन प्रवाह के विभिन्न पड़ाव हैं। इस अर्थ में कंवल भारती जी और बाल्मीकि जी के कथनों में अद्‌भुत साम्य है।

दलित साहित्य बंधुता, समता और मानवता पर आधारित है। दलित साहित्य का विचारधारात्मक प्रस्थान क्या है? कंवल भारती जी के अनुसार, ''दलित साहित्य की ऊर्जा और आधारभूमि डा. अम्बेडकर का दर्शन है जो जाति और वर्ण व्यवस्था का उच्छेद करना चाहता हैं इसका पोषण करने वाला ब्राह्मणवाद उसका मुख्य शत्रु है। इसलिए दलित साहित्य हिदुत्व तथा उसके धर्मशास्त्रों और देवताओं को भी नकारता है क्योंकि वे जाति का धर्म सिखाते हैं और ब्राह्मणवाद को मजबूत करते हैं। दलित साहित्य पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ाई का समर्थक है। दलित साहित्य का विरोध वहां है, जहां शोषक और शोषित, गरीब और अमीर के वर्ग संघर्ष या विभाजन को ही समाज का सत्य मान लिया गया है। दलित साहित्य की मान्यता है कि भारतीय समाज का सत्य वर्ग नहीं, वर्ण है और उसके आधार पर बनी जातियों की व्यवस्था है। भारत के दलितों का शोषण और दमन वर्णव्यवस्था के कारण है, उनकी गरीबी भी वर्णव्यवस्था के कारण है और अस्पृश्यता भी वर्ण व्यवस्था के ही कारण है। इसलिए दलित साहित्य न तो उस साहित्य का समर्थक है जो येन केन प्रकारेण वर्णव्यवस्था को स्वीकार करता है और न उस साहित्य की हिमायत कर सकता है, जो सिर्फ अस्पृश्यता-निवारण तक ही सीमित रहना चाहता है और दलितोत्थान में वर्ण-विरोध की उपेक्षा करता है।''[22]

दलित साहित्य का वैचारिक आधार अम्बेडकरी दर्शन ही है जो मार्क्सवाद को एक सीमा तक स्वीकार करता है, किंतु भारतीय समाज की जातिगत विषमता यूरोपीय समाज में वैसी नहीं थी। वहां श्रमिक और पूंजीपति दो वर्ग थे किंतु भारत

में यह वर्ग अनेक जातियों उपजातियों में विभाजित है। यहां उनके एक होने की संभावना तब तक नहीं है, जब तक कि जाति का उच्छेद न हो जाए। किंतु क्या गैर दलित उदारमना साहित्यकारों के दलित विषयक साहित्य को नकार देना चाहिए? सुविख्यात विचारक प्रो. मैनेजर पाण्डे के अनुसार, "जहां तक दलित साहित्य की अवधारणा की बात है, तो दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों के द्वारा दलितों के बारे में, दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैर-दलित लेखकों का साहित्य। मेरे विचार में करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं। लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण समुदाय के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति और करुणा से नहीं, बल्कि स्वानुभूति से अपजा होता है।" [23]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्य एक व्यापक एवं गहन गंभीर साहित्य धारा है। साहित्य यदि समाज का प्रतिनिधित्व एवं समाज को प्रभावित ही न कर सके, तो उसका प्रयोजन खतरे में पड़ सकता है। इस अर्थ में दलित साहित्य एक अद्‌भुत एवं प्रकाशपूर्ण संभावना है। वस्तुतः दलित साहित्य का वैचारिक प्रस्थान अम्बेडकर दर्शन है। वह मार्क्सवाद का समर्थन करता है किंतु उसके अपने मूल्य अम्बेडकरी हैं। दलित साहित्य अम्बेडकर-निष्ठित दलितों तथा गैर-दलितों का साहित्य है। वही गैर दलित दलित साहित्य में अपना अधिकार जता सकते हैं जो अम्बेडकरी सोच के हों। अम्बेडकरी सोच का अर्थ व्यक्ति-पूजा अथवा अंधश्रद्धा नहीं अपितु विशुद्ध एवं ईमानदार मानवतावाद है। जैसा कि पाण्डे जी ने कहा कि वह [दलितों द्वारा लिखित साहित्य] अधिक प्रामाणिक होगा, उचित ही है। कुछ विद्वानों का यह आरोप भी निराधार ही साबित होता है कि इससे साहित्य में खेमे बढ़ेंगे।

साहित्य सदा से खेमों में लिखा जाता रहा हैं पुरानों के विरोध में नए आते रहे हैं। सत्तारूढ़ लोग अपना साहित्य रचते हैं, अपने मूल्यों और स्वार्थ पर आधारित, अपनी भोग-लिप्सा और प्रचण्ड नग्नता पर आधारित कलावादी साहित्य जिसे उनके समीक्षक 'क्लासिक' कह कर प्रचारित करते हैं। हाशिये के लोग भी अपना साहित्य रचते हैं, किंतु वह भिन्न प्रकार का होता है। वह शोषित और दबे-कुचले लोगों का क्रंदन और क्रांति का स्वर होता है। वर्तमान में स्त्री साहित्य और दलित साहित्य इसी अर्थ में नए खेमे हैं जो पुराने खेमों और गढ़ों के

अत्याचार और विकृति को नेस्तनाबूद करने का सामर्थ्य रखते हैं। दलित साहित्य की निष्ठा के क्षेत्र में अस्पृश्य, आदिवासी, खानाबदोश जातियां ही नहीं है, अपितु सम्पर्ण मानव समाज के मूल्य हैं। किंतु दलित इसकी प्राथमिकता है। इसमें और अधिक विस्तार की संभावनाएं हैं।

दलित साहित्य का आरंभ एवं विकास

दलित साहित्य की वर्तमान अभिव्यक्ति सन् 1928 के आस पास प्रारंभ हुई। जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि दलित साहित्य का जीवनप्राण अम्बेडकर-विचार है, अत: डा. अम्बेडकर के साहित्य सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कर लेना अनिवार्य होगा। बाबा साहेब अम्बेडकर कहते हैं, ऋग्वेद, अथर्ववेद मैंने कितनी बार पढ़े हैं। पर उसमें समाज और मानव की उन्नति के लिए और नीतिमत्ता के लिए बलवर्द्धक क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आता। [24] इस वक्तव्य से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार के साहित्य की पैरवी करते हैं। उन्होंने कहा था, "आम आदमी की महत्ता से प्रेरणा लेकर लेखकों को लेखन करना चाहिए। अपनी साहित्य की रचनाओं में उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को परिष्कृत कीजिए। अपना लक्ष्य सीमित मत रखिये। अपनी कलम की रोशनी को इस तरह परिवर्तित कीजिए कि अपने देश में दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बहुत बड़ी है। उनकी पीड़ा और व्यथा को भली-भांति जान लीजिए और अपने साहित्य द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयास कीजिए। इसमें सच्ची मानवता निहित है। [25] बाबा साहेब अम्बेडकर साहित्य को दलित शोषित समाज के पक्षधर और प्रवक्ता के रूप में लेते हैं।

यह सत्य है कि दलित साहित्य का वर्तमान स्वरूप 1928 के आस पास प्रारंभ हुआ किंतु उसके बीज साहित्य के इतिहास में बहुत पीछे तक हैं। सिद्धों-नाथों की परम्परा में दीक्षा लेने वाले दलितों ने तभी से इस विषम जाति-व्यवस्था के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया था। भक्ति काल तक आते-आते कबीर, रैदास, मलूका, सेना आदि ने इसे अधिक आग्नेय ओर धारदार बनाया। आधुनिक काल के आरंभिक वर्षों में पूरी हिन्दी पट्टी में चौतरफा क्रांतिस्वर सुनाई पड़ने लगे थे। उत्तर प्रदेश के अछूतानंद के आदि हिन्दू आन्दोलन का प्रभाव दलित साहित्य पर पड़ा। शंकरानन्द जैसे कवि इसी आंदोलन की देन है। यह भजन आज भी हिन्दी प्रदेश में विख्यात है।

मनु जी तैने वर्ण बनाए चार
जा दिन तूने वर्ण बनाए, न्यारे रंग बनाए क्यों न?
गोर ब्राह्मण, लाल क्षत्री, बनिये पीत बनाए क्यों न?
कैसे हो पहचान पोप की, दो अक्षर डलवाए क्यों न?
पांच तत्व तो सब में दीखे, ज्यादा तत्व लगाए क्यों न?
वह सर्वज्ञ सर्व में व्यापक, उससे जुदे बनाए क्यों न?
पांच तत्व गुण तीन बराबर, बढ़ कर तत्व लगाये क्यों न?
एक चूक बड़ भारी पड़ गई, न्यारा मुल्क बसाए क्यों न?
लोहे के बर्तन पर पानी, कंचन को दियो डार
मनुजी तैने वर्ण बनाए चार।

इस भजन की रचना 20वीं सदी के आरंभ में शंकरानन्द जी ने की थी । स्वामी अछूतानन्द जी ने नवम्बर 1928 में बाबा साहेब अम्बेडकर से मुलाकात की थी और उन्हें अपना नेता ही नहीं बल्कि भारत के दलितों का प्रतिनिधि भी माना था। 1927 में ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि भारत में दलितों को पूर्ण आजादी चाहिए। कई पुस्तकें भी उन्होंने लिखी लेकिन हिन्दी क्षेत्र के सवर्णों के कारण वे ज्यादा प्रचारित प्रसारित नहीं हो पाईं। यह स्थिति पूरे उत्तर भारत में दिखाई देती है। जहां कहो इस जाति-व्यवस्था के विरोध में स्वर उठा, उसे कुचल दिया गया। वे स्वर संगठित नहीं थे ओर उन्हें दलित समाज का भी व्यापक समर्थन नहीं मिला था।

मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में, ''उत्तर में कबीर आए, नानक आए, रैदास आए पर ज्योतिबा फुले और बाबा साहेब अम्बेडकर जैसे व्यक्तित्व न आए। यह हमारे लिए अफसोस की बात क्यों नहीं होनी चाहिए। हमने तो ज्योतिबा फुले और बाबा साहेब का जन्म होते ही उन्हें अपना मान लिया था। उनके विचारों को आत्मसात किया था। हमें लगा था कि उन्होंने हमारे ही घर में जन्म लिया है। मेरा घर, मेरी बस्ती, मेरा नगर ही क्यों, सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में हमने क्रांतिकारी आह्वान किया था। [26]

इसी आलेख में वे हिन्दी पट्टी में दलित साहित्य के विकास पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, '' इलाहबाद के रामचंद्र बनोधा ने धनंजय कीर से भी पूर्व 1950 जीवनी लिख दी थी। उत्तर प्रदेश में आगरा में बाबा साहेब का अधिक प्रभाव पड़ा। जिन लोगों ने सामाजिक एवं साहित्यिक दिशा में उन दिनों

योगदान किया उनमें भगवानदास यादवेन्दु, डा. खेमचंद बोहरे, बाबू करण सिंह केन, गोपी चंद पिप्पल और छत्रपति अम्बेश प्रमुख थे। भगवानदास का 'अछूत का बेटा' तथा 1950 से 60 के बीच मेरठ के देवीदयाल सैम का उपन्यास 'मानव की परख' दिल्ली के आत्माराम एण्ड संस ने प्रकाशित किया था। उन्होंने कई कहानियां भी लिखी थीं जो धर्मयुग आदि में छपी थीं। उन्हीं दिनों सीता राम खोड़ावाल की 'पुत्रहंता' विश्बामित्र और शंकराचार्य का अंतर्द्वन्द रचनाएं काफी चर्चित हुई जो 'आजकल' में छपी थी।

खोड़ावाल जी की देवली और साढूपुर हत्याकाण्डों की प्रतिक्रिया में उत्तर प्रदेश में 'जाति वैमनस्य' नामक लेख हिन्दुस्तान साप्ताहिक में छपा था जिसके चलते उन्हें सवर्णों के लगभग एक सौ धमकी भरे पत्र आए थे। इन पत्रों में उन्हें जान से मार देने की धमकी भी दी गई थी। उन्हीं दिनों उनका एक कहानी संग्रह ''मन चंगा तो कठौती में गंगा'' भी प्रकाशित हुआ था। कवि बिहारी लाल हरित की 'अछूतों को पिस्तौल', ''फूल और शूल'', ''गुरु दक्षिणा'' आदि रचनाएं प्रमुख रहीं। उसी पीढ़ी में डा. सोहन लाल शास्त्री, डा. शंकरानंद शास्त्री, नानकचंद रत्तू एवं डा. वी. पी. वरुण, डा. छेदीलाल साथी, गया प्रसाद 'प्रशांत' हुए जिन्होंने साहित्यिक योगदान दिया । चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने बाबा साहेब के साहित्य को संकलित किया । जो हिन्दी पट्टी में दलित साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत बना।[27]

हिन्दी क्षेत्र में सर्वाधिक जागृति विश्वनाथ प्रतापसिंह के 'मण्डल' ने उत्पन्न की। पूरा सवर्ण समाज उनके इस 'विश्वासघात' से सन्न रह गया। चारों ओर आत्मदाह, धरने, दंगे भड़क उठे। पुलिस, मीडिया, प्रशासन भी उन्हीं का साथ दे रहा था। सारा तंत्र जैसे लकवाग्रस्त हो गया। किंतु दलितों के हृदय भी शिक्षित एवं सभ्य सवर्णों के रंग को देख कर दग्ध हो गये। इन्होंने भी मोर्चे और संगठन बनाना आरंभ किया। इस नई पीढ़ी में अनेक सूर्य उदित हुए। डा. धर्मवीर, ओमप्रकाश बाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, माता प्रसाद, डा. एन. सिंह, डा. श्योराज सिंह बेचैन, डा. चंद्रभान प्रसाद, कंवल भारती, नवल वियोगी, सुशीला टाकभौरे, रजतरानी 'मीनू', जयप्रकाश कर्दम, प्रेम कपाड़िया, मोहनदास नैमिशराय, कुसुम वियोगी, वी. पी. सिंह, मलखान सिंह, शत्रुघ्न कुमार, सुश्री कावेरी, प्रह्लाद चंद्रदास, दयानन्द बटोही, लालचंद राही, विपिन बिहारी, जियालाल आर्य, रमाशंकर आर्य, ए. के. विश्वास, एस. के. विश्वास, रजनी तिलक, कर्मशील

भारती तथा अजय यतीश जैसे अनेक दलित लेखकों ने कहानी, कविता, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना, समीक्षा, नाटक एवं निबंध आदि विधाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। इस प्रकार दलित साहित्य अपने शैशव से यौवन तक पहुंच चुका है। यह विकास अभी बदस्तूर जारी है।

दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र

सौन्दर्य किसी साहित्य का अभिन्न अंग है या नहीं, इसका उत्तर पाठक की प्रवृत्ति एवं मानसिकता पर निर्भर करता है। नागार्जुन के रिक्शेवाले के 'गुट्ठल गुठलियों वाले पैर तो दूधिया निगाहों में खुव ही जाएंगें'। क्या वहां उन्हें सौन्दर्य दिखाई देगा? प्रेमचंद की 'सद्गति' कहानी के पण्डित घासीराम द्वारा चमार की लाश को खींच कर ले जाना कुछ पाठकों को जरूर सौन्दर्य नहीं लगा होगा। क्या सत्य को ढककर असत्य को दिखाना ही सौन्दर्य है? किस भांति का है यह सौन्दर्यबोध। शरीर में फोड़ा हो जाता है, तो उसमें चीरा लगा कर मवाद बाहर निकाला जाता है, कुछ देर वातावरण में दुर्गंध अवश्य फैलती है, किंतु क्या शरीर को पुनः निरोग करने के लिए यह आवश्यक नहीं है? दलित साहित्य हिन्दू समाज के शरीर के उसी जाति व्यवस्था रूपी फोड़े पर चीरा लगाकर नफरत-असमानता की मवाद को बाहर निकालने का प्रयास कर रहा है। मवाद में दुर्गंध ही होती है, इसमें चीरा लगाने वाले का क्या दोष है? वह तो जो है, उसे सम्मुख ही ला रहा हैं दलित साहित्य अश्लीलता एवं गालियों का साहित्य है? ऐसे आरोपों से दलित साहित्य घिरा रहा है। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व कंवल भारती जी की कविता की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं :-

यह बताओ
बलात्कार की शिकार
तुम्हारी मां की भाषा कैसी होगी?
कैसे होंगे
गुलामी की जिन्दगी जीने वाले
तुम्हारे बाप के विचार?
ठाकुर की हवेली में दम तोड़ती
तुम्हारी बहिन के शब्द
क्या वे सुंदर होंगे। [28]

कंवल भारती जी के मतानुसार, ''दलित साहित्य गाली का साहित्य नहीं है। जिस परिवेश में दलित सांस ले रहा है, वे गालियां उसी परिवेश में हैं। दलित लेखक उन गालियों को उस परिवेश से कैसे निकाल सकता है? यथार्थ का यथार्थपूर्ण चित्रण उसकी समग्रता में ही हो सकता है। समग्रता में किसी यथार्थ की भाषा को अपेक्षित या बदला नहीं जा सकता।''[29] भारती जी यथार्थ को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करने के हामी हैं। किंतु कुछ आलोचकों को यह अश्लीलता लगती है।

प्रसिद्ध विद्वान के सच्चिदानन्दन के कथनानुसार ''यह बात जरूर है कि पारम्परिक साहित्य के आधार पर दलित साहित्य को देखें तो इसमें कुछ कमियां नज़र आएंगी। लेकिन यह भी मानना होगा कि दलित साहित्य से जुड़े रचनाकार पारम्परिक साहित्य और उसके मानदण्ड को नकारते हैं तथा वे अपने जीवन के अनुभव के माध्यम से दलित साहित्य का एक नया सौन्दर्यशास्त्र, नई भाषा गढ़ना चाहते हैं।''[30] इसी क्रम में वे और अधिक ईमानदार होते हुए लिखते हैं कि, ''जिन शब्दों को हम अनैतिक अथवा अश्लील कहते हैं, उन्हें वह सहज मानते हैं तथा उनका प्रयोग करते हैं। वे मानते हैं कि ये शब्द उनके वास्तविक जीवन के शब्द हैं तथा इनके बिना दलित साहित्य का अस्तित्व कैसा? अगर हम भारतीय समाज में उनकी स्थिति को देखें तो उनका कहना गलत नहीं है। यही कारण है कि दलित साहित्यकार शब्दों का एक नया शास्त्र गढ़ रहे हैं।''[31]

संपूर्ण दलित साहित्य भारतीय क्लासिकल साहित्य के मूलमंत्र ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' को नकारता है। ब्राह्मणवादी साहित्य का सत्य शिव और सुन्दर सदा दलितों के लिए असत्य अशिव और असुन्दर रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्य एक नए सौन्दर्यशास्त्र की रचना कर रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दलित जन उभार, बी एम एन प्रकाशन, लखनऊ, पृ 226
2. शूद्रों का इतिहास, डॉ. रामशरण शर्मा, पृ 8
3. वही, पृ 10
4. दलित जन उभार, पृ 44
5. वही, पृ 48
6. वही, पृ 43
7. वही, पृ 47
8. वही, पृ 129
9. वही, पृ 127
10. दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया, डॉ. नरेन्द्र सिंह, पृ 30
11. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना, डॉ. बलवंत साधु जाधव, पृ 15
12. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वांग्मय, खंड 6, पृ 155
13. हंस, अक्तूबर 1992, पृ 23
14. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वांग्मय, खंड 6, पृ 53
15. प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना, पृ 23
16. दलित चेतना साहित्य, नवलेखन प्रकाशन, पृ 3
17. वही, पृ 5
18. दलित साहित्य और वैचारिकता, मई 1975, बाबू राव बागुल, पृ 20
19. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, डॉ. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, पृ 28
20. कल के लिए, दिसम्बर 1998, पृ 18
21. दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर, पृ 93
22. वही
23. दलित चेतना साहित्य, वही, पृ 4
24. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, डॉ. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, पृ 54

25. वही, पृ 55
26. दलित चेतना सोच, वही, पृ 35
27. वही, पृ 36
28. दलित जन उभार, वही, पृ 187
29. वही, पृ 187
30. दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, वही, पृ 46
31. वही, पृ 47

दलित साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न

क. दलित साहित्य और प्रामाणिकता

ख. सहानुभूति बनाम स्वानुभूति

ग. दलित साहित्यः अधिकार का प्रश्न

दलित साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न

पिछले अध्याय में हमने दलित के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिवेश की पड़ताल की, साथ ही उसके उत्तरोत्तर शैक्षिक विकास के क्रम तथा उससे उत्पन्न साहित्यिक सरगर्मी की सुगबुगाहट की चर्चा भी की। इधर के कुछ वर्षों में साहित्यिक हलकों में सर्वाधिक मुखर एवं विवादास्पद विमर्श दलित विमर्श ही है। यह विवाद आरंभ में उसकी जरूरत [गैर-जरूरत], तत्पश्चात् भाषा और शिल्प और अब उसकी प्रामाणिकता के प्रश्न और औचित्य पर स्थिर हो गया है। परम्परावादियों को इसका उद्‌भव शुरू से ही अखरता था, उसके मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट हैं जिनपर चर्चा विषयांतर होगा। किंतु इधर कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य मार्क्सवादियों ने भी इसकी मुखालफत शुरू की, खासकर इसकी प्रामाणिकता के आधार को लेकर। दलित साहित्यकार के बरक्स गैर-दलित साहित्यकारों [जिनमें मार्क्सवादी एवं अन्य शामिल हैं] के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इस संदर्भ में नितांत जरूरी है। यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है कि दलित तथा गैर-दलित साहित्यकार अपने पक्ष में, अपने एकालाप में व्यस्त रहें ओर अन्य पक्ष को अनसुना-अनदेखा करते रहें। भारतीय परिवेश में यह वर्तमान युग का सर्वाधिक ज्वलंत प्रश्न है तथा मार्क्सवादियों और दलित साहित्कारों का मिशन मूलतः एक समान ही है।

दलित साहित्य और प्रामाणिकता

जीवन सतत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन शाश्वत नियम है। जो जड़ है या हो चुका है या कर दिया गया है, वह मृत है या मृतप्रायः है। यह स्थिति संपूर्ण जीव जगत पर लागू होती है, तब साहित्य जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इसी का प्रतिबिम्बन प्रतिफलन है वह इससे अछूता कैसे रह सकता है? कुछ विद्वानों का मानना है कि साहित्य कोई भी हो, दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी, नीग्रो अथवा श्वेत,-सवर्ण अथवा दलित, उसकी प्रारंभिक शर्त उसके साहित्य होने में है। उन मूलभूत अहर्ताओं को पूरा करने के पश्चात ही वह साहित्य की श्रेणी में आता है। संवेदना का सीधा सम्बन्ध विचारधारात्मक प्रस्थान से है। ये मूलभूत अहर्ता क्या है ? इस पर पर्याप्त मतभेद हैं। ध्वनि, अलंकार, रस, वक्रोक्ति आदि कुछ ऐसे सिद्धांत रहे हैं जिनके माध्यम से साहित्य की आत्मा का खण्डन-मण्डन होता रहा है।

वर्तमान में दलित साहित्यकारों ने इन परम्परावादी प्रतिमानों की चूलें हिला दी हैं वे इन प्रतिमानों को नकारते हुए नए प्रतिमान स्थापित करना चाहते हैं। भाषा, कथ्य, संवेदना के स्तर पर वे विद्रोह का बिगुल बजाते हैं। इसीलिए उनके साहित्य पर गाली साहित्य का आरोप भी लगा जिसका समुचित उत्तर दलित साहित्यकारों ने दिया। उनकी अभिधात्मक प्रस्तुति को आरोपों-प्रत्यारोपों के कटघरे में खड़ा होना पड़ा। इस संदर्भ में मूर्धन्य साहित्यकार भीष्म साहनी जी के अनुसार, ''इसमें संदेह नहीं कि इंसान जहां सहता है, वहां वह विद्रोह भी करता है, दोनों प्रवृत्तियां इंसान के स्वभाव में पाई जाती हैं, पर विद्रोह की आवाज रचना में खपकर आए तो वह विश्वसनीय होती है, खपकर न आए तो आरोपित होती है, बनावटी हो जाती है।'' [1] वास्तव में यही रचना के रचना होने की भी शर्त है, अन्यथा वह नारेबाजी या प्रचार-साहित्य हो जाता है।

अनुभूति की प्रामाणिकता के संबंध में वे एक अन्य स्थान पर लिखते हैं, ''मेरी नजर में उसी रचना में खरापन होगा, जिसके सृजन में लेखक का समूचा सर्जनात्मक व्यक्तित्व यानि उसका संवेदन, उसकी कल्पना, उसका चिंतन और उसकी दृष्टि सक्रिय होते हैं। पर जहां तक लेखक के सृजन का सवाल है, किसी सीमा तक ही इन अपेक्षाओं की अपयोगिता रहती है। क्योंकि मूलतः लेखक का संवेदन ही उसे रास्ता सुझाता है। लेखक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व इन अपेक्षाओं से नहीं बनता, वह उसके अपने संस्कारों अनुभवों, चिंतन, पठन-पाठन और उसकी सूझ से बनता है। हां, जिस माहौल में वह जीता और सांस लेता है, उस माहौल के प्रति वह निश्चय ही उत्तरोत्तर सचेत होता जाता है। [2]

उपर्युक्त कथन में हम पाते हैं कि प्रधान तत्व संवेदना तथा वह माहौल है जिसमें लेखक जीता और सांस लेता है तथा गौण तत्व के रूप में चिंतन, पठन-पाठन और उसकी सूझ है। इस अर्थ में दलित साहित्यकारों का यह दावा कि वे ही आधिकारिक एवं प्रामाणिक अनुभूति की अभिव्यक्ति कर सकते हैं, कुछ सीमा तक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। इस संबंध में प्रख्यात आलोचक एवं विद्वान प्रो. मैनेजर पांडे जी के मतानुसार, ''भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास जिस रूप में चलता रहा है, उसमें जब दलितों को पढ़ने-लिखने की ही सुविधा नहीं थी, तो वे अपने बारे में साहित्य कहां से लिखते ? इसलिए दलित साहित्य के रूप में अधिकांशतः वही साहित्य मिलता है, जो दलितों के बारे में गैर-दलितों ने लिखा है। इस साहित्य में बहुत कुछ ऐसा भी है जो काफी हद

तक दलित जीवन की वास्तविकताओं और अनुभवों को गहरी सहानुभूति के साथ व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद और निराला की दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता, और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परन्तु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती, जो किसी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में होती है।[2]

मुझे लगता है कि जब तक अपने बारे में लिखे हुए दलितों के साहित्य का पर्याप्त विकास नहीं होता तब तक गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य को भी भले ही दलित साहित्य कहा जाय, लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही होगा, जो दलितों के बारे में स्वयं दलित लिखेंगे। जब अपने समुदाय के जीवन के यथार्थ और अनुभवों के बारे में कोई दलित लिखता है, तब उसकी दृष्टि में जो आग, चित्रों में जो आभा और भाषा में जो ऊर्जा होती है, वह गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य में नहीं होती। दलित जीवन के अनुभव के कुछ ऐसे पक्ष होते हैं, जो जाति सापेक्ष होते हैं और केवल उन्हीं के द्वारा अनुभूत किए जा सकते हैं। ऐसे अनुभवों का प्रामाणिक चित्रण कोई गैर दलित लेखक वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे स्त्री जीवन के अनेक स्त्रियोचित अनुभवों की अभिव्यक्ति के प्रसंग में ज्योतिबा फुले का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है, कि गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है, जलने का अनुभव, कोई और नहीं। [3]

पांडे जी के मत में एक निर्भीकता, ईमानदारी और वैचारिक स्पष्टता है, वे दलितों द्वारा अपने समुदाय के संबंध में लेखन को अधिक प्रामाणिक तो मानते हैं किंतु गैर-दलित लेखकों की सहृदयता तथा सहानुभूति के औचित्य को भी एक 'सीमा विशेष' तक स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते हैं, "कुछ जाति-सापेक्ष सत्यों के अनुभव में गैर-दलित लेखकों का चूक जाना स्वाभाविक है। वह नितांत निजी [पर्सनल] सत्य है। किंतु कुछ लेखकों का मत है कि प्रामाणिकता का कोई ठोस आधार नहीं है। कोई भी लेखक जो प्रतिभा सम्पन्न, कला-कुशल, भाव-प्रवण तथा कल्पनाशील है, इस समस्या पर रचनात्मक पहल कर सकता है। फिर भले ही वह जाति से दलित हो या नहीं। वे लेखक इस सत्य से विरोध रखते

हैं और उनका मत है कि यह एक तरह का शार्टकट है, साहित्य में यशस्वी होने का ।[4]

हंस में छपे लेख में ऐसे ही एक लेखक का मत है, ''एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी इस चर्चा के क्रम में उठता है कि क्या प्रसाद, पंत, निराला से लेकर नागार्जुन तक की रचना को सवर्ण साहित्य की श्रेणी में रखकर खारिज कर देना चाहिए? मेरा ख्याल है कि ऐसा सोचना दलित दृष्टि का भयंकर भटकाव है। वर्ण का प्रश्न महत्वपूर्ण है, मूलगामी है, पर यह अकेला नहीं है। केवल इस समस्या के खत्म हो जाने से सारी समस्याएं खत्म नहीं होती हैं। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी का जो नया खेल शुरू हुआ है, विचारधारा, दर्शन, मानवता को जो नये सिरे से खतरनाक रूप से परिभाषित किया जा रहा है, उन प्रश्नों का हल केवल वर्णव्यवस्था खत्म होने से नहीं होगा। फिर यह कैसे मान लिया जाए कि दलित लेखक सही तरीके से दलित समस्या को उठा रहे हैं? कुछ बातों की चर्चा करने से यह साफ होगा कि दलित लेखन स्वयं अपनी दिशा नहीं तय कर पा रहा है। इस पर चर्चा जरूरी है।''[5]

यहां लेखक की मत-स्थापनाओं में एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। एक ओर, वे यह भी मानते हैं कि 'वर्ण' का प्रश्न महत्वपूर्ण है, मूलगामी है, जबकि दूसरी ओर, उसकी मूलगामिता, उसकी महत्ता राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पूंजी स्तर की पूंजी के आगे बौनी हो जाती है। क्या भारत में आजादी के 54 वर्षों बाद भी एक दलित व्यक्ति ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्र में सम्मानपूर्वक जी रहा है ? क्या अधिकांश सवर्णों की हिकारत प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में विद्यमान नहीं रहती है ? किंतु लेख में फिर भी यह शंका जाहिर की गई है कि क्या दलित लेखक सही तरह से दलित समस्या को उठा रहे हैं ? यही प्रश्न दलित साहित्यकार उठा रहे हैं कि क्या सवर्ण साहित्यकारों ने दलित समस्या को सही ढंग से उठाया है। आगे वे लिखते हैं, ''कठिनाई तब बढ़ जाती है, जब एक ओर दलित लेखक ब्राह्मणवाद का विरोध करते हैं, पर दूसरी ओर स्वयं अपना स्तर ऊंचा होते ही कवच में बन्द हो जाते हैं। चूंकि वर्तमान से उन्हें शिकायत नहीं होती और शेष दलित समाज के भविष्य के लिए उनके पास कारगर दृष्टि नहीं होती, इसलिए वे साहित्यिक 'शगल' में लग जाते हैं। फिर साहित्य उनके लिए 'शगल' मात्र रह जाता है और उनकी एक विशिष्ट पहचान बनी रहे, इसलिए वे दलित लेखन को छोटे से छोटे कवच में बन्द कर लेना चाहते हैं

क्योंकि कंपीटिशन जितना बढ़ेगा, उनकी जिम्मेदारियां बढ़ेंगी, कई जहमतें उठानी पड़ेंगी। यही कारण है कि अधिकांश दलित लेखक पूर्व के उन्हीं अत्याचारों को बार-बार दुहराते हैं जिन्हें वे आज नहीं भोग रहे हैं। उनकी जमात के दूसरे लोग भोग रहे हैं। मगर चूंकि ऐसा ही करना उनके "कैरियर" के लिए अच्छा है, इसलिए वे इससे ज्यादा कुछ नहीं करते।"[6]

इन विचारों में लेखक के पूर्वाग्रह दृष्टिगोचर होते हैं। यह ठीक है कि दलित लेखक ब्राह्मणवाद का विरोध करता है क्योंकि दलित साहित्य बंधुता, समता तथा स्वतंत्रता का साहित्य है। किंतु दलित लेखकों के पास वर्तमान युगबोध का अभाव तथा भविष्य दृष्टि नहीं है, यह आरोप निराधार है। भारतीय समाज की सर्वाधिक भीषण समस्या जाति-समस्या के अलावा और क्या हो सकती है ? इस समस्या पर दलित साहित्य केन्द्रित है तथा वह समतामूलक और बंधुत्व-आधारित भविष्य के समाज की संकल्पना करता है। दूसरी ओर दलित लेखक चूंकि अस्पृश्यता तथा उपेक्षा के दंश को झेल चुके हैं क्योंकि वे उन समाजों से आए हैं, जो सदियों तक (वर्तमान समय में भी) बहिष्कृत रहे हैं। अतः साहित्य उनके लिए 'शगल' नहीं बल्कि जीने की मूलभूत शर्त है। दलित साहित्य का आधार-स्तंभ ही परिवर्तन कामी चेतना है। क्या ब्राह्मणवादी समाज ने पिछले 3000 वर्षों तक इस वर्ग को कंपीटिशन से बाहर नहीं रखा। संभवतः इसी प्रवृत्ति से खिन्न होकर मूर्धन्य दलित साहित्यकार कंवल भारती जी ने जोर देकर कहा था कि, "गैर दलित दलित साहित्य नहीं लिख सकता।"[7] किंतु सुश्री निर्मला जैन ने इस पर टिप्पणी की थी, "आक्रोश के पीछे अनिवार्यतः आवेग होता है, जिससे अक्सर विवेक गड़बड़ा जाता है।"[8]

दलित आलोचक तेज सिंह ने अपने लेख "हिंदी उपन्यास-दलित-विमर्श का पुराख्यान" में प्रामाणिकता तथा अन्य प्रश्नों पर गंभीर विमर्श किया है। उनके अनुसार, "इधर जब से हिन्दी क्षेत्र में दलित साहित्य पर चर्चा शुरू हुई है, तभी से हिंदी साहित्य में दलित चेतना या दलित विमर्श के नाम पर गैर-दलितों द्वारा शोध-कार्य के साथ-साथ काफी संख्या में आलोचनात्मक लेखन होने लगा है। ज्यादातर ऐसा शोध-लेखन दलित साहित्य को दिग्भ्रमित करने के लिए किया जा रहा है। गैर दलित इसी इरादे से हिंदी साहित्य में दलित-चेतना के नाम पर दलित विमर्श कर रहे हैं ताकि दलित साहित्य में उनकी चोर-दरवाजे से घुसपैठ हो जाए! यह इस हठधर्मिता का ही परिणाम है, कि बलात् हिन्दी साहित्य में दलित

चेतना खोजी जाने लगी है। एक समय ऐसा भी आएगा जब उन्हें वेद-उपनिषदों में भी दलित चेतना दिखाई देने लगेगी। दलितों को यह अप्रत्याशित नहीं लगना चाहिए क्योंकि जब-जब ब्राह्मणवाद के खिलाफ दलित पिछड़ी जातियों ने विद्रोह की चेष्टा की है या विद्रोह किया है, तब-तब यह प्रक्रिया देखने में आई है।''[9]

इन विचारों के आलोक में कुछ अतिवादिता दृष्टव्य होती है क्योंकि जन्मना दलित होने पर भी चेतना का अनिवार्यतः होना संभव नहीं है। संभावना यह भी हो सकती है कि गैर-दलित में यह चेतना विद्यमान हो। किंतु उनका मूल वक्तव्य दलित चेतना और विमर्श है, आगे वे लिखते हैं, ''इस तरह अब हिन्दी-साहित्य में दलित-चेतना या विमर्श के नाम पर गैर-दलित साहित्य को दलित साहित्य में स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है ताकि दलित साहित्य के विकास को अवरुद्ध किया जा सके और यह काम दलित-विमर्श को दलित-चेतना बनाकर या बताकर किया जा रहा है, जबकि दलित चेतना और दलित-विमर्श में मूलभूत अंतर है। इसलिए गैर-दलित साहित्यकार-आलोचक जान-बूझकर दलित साहित्य की अवधारणा और उसकी चेतना को तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे हैं जबकि वास्तविक सच्चाई यह है कि दलित-विमर्श का अर्थ दलित चेतना नहीं है। दलित-विमर्श का वास्तविक अर्थ है - गैर दलित साहित्यकारों द्वारा दलित समाज के लोगों के दुख दर्द के प्रति सहानुभूति दिखाना या ज्यादा से ज्यादा उनके उत्पीड़न-शोषण की स्थितियों की जानकारी देना।''[10]

यहां उनके विचारों में एक पारदर्शिता दिखाई देती है। निस्संदेह यह एक ईमानदार वक्तव्य होने के साथ-साथ मूल सत्य भी है। वस्तुतः चेतना और विमर्श दो भिन्न प्रत्यय ही है। यह आवश्यक नहीं है कि विमर्श का प्रतिबिम्ब आचरण में भी दृष्टिगत होता हो। लोहिया जी का यह कथन, ''कि उनके मंतव्य का पता इससे नहीं कि वे क्या बोलते हैं, बल्कि इससे लगता है कि वे शाम के बाद कहां और किन लोगों के बीच उठते-बैठते हैं'' उचित प्रतीत होता है।

यह अधिकतम एक तरह का मानवतावादी दृष्टिकोण हो सकता है, मूल चेतना नहीं। जिस तरह दलित मानसिकता शोषण को स्वीकारने और नियति मानने में रही है उसी तर्ज पर सवर्ण मानसिकता उनके शोषण की रही है। प्रगतिशील सवर्ण अधिकतम यह दुस्साहस कर सकते हैं या आंशिक रूप से करते हैं कि वे स्वयं ऐसे शोषण में विश्वास नहीं रखते और वह प्रवृत्ति भी सैद्धांतिक

अधिक होती है और व्यवहारगत कम। दलित साहित्यकारों की सवर्णों के प्रति यही धारणा है जिसके चलते वे उनकी सहानुभूति को शंका की दृष्टि से देखते हैं। भारतीय इतिहास और वर्तमान में होने वाली दिन-प्रतिदिन की घटनाएं इस शंका के लिए पर्याप्त भी हैं।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में स्पष्ट किया है कि दलित साहित्य का वैचारिक प्रस्थान बिन्दु अम्बेडकर-दर्शन है। वे 22 प्रतिज्ञाएं हैं जिनको दलित साहित्यकार 'मानवता' के प्रति शपथ के रूप में लेता है। जबकि परम्परावादी सवर्णों को यही भय सालता रहता है कि यदि दलितों को भी यथोचित सम्मान दिया जाएगा तो धर्म की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी। उन मानव धर्मशास्त्रों के विधानों की क्या गत होगी जो उनके अमानवीय शोषण की पैरवी करते हैं? उस वर्ण व्यवस्था का क्या होगा, जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म (ब्राह्मण धर्म) का अस्तित्व है? दलित साहित्यकार, इसलिए उन सभी लेखकों को सिरे से खारिज करता है जो सोच में अम्बेडकरी नहीं हैं। गांधीजी के दर्शन से प्रभावित लेखकों को वह पूरी तरह अस्वीकार नहीं करता है किंतु वह यह मानता है कि यह अनुकम्पावश लिखा साहित्य है। यह अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय तथा सामाजिक और सर्वाधिक "हम भी लिखेंगे" की भावना के दबावों का परिणाम है।

तेज सिंह लिखते हैं, "उन्हीं विचारों का पुरजोर समर्थन हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकार कर रहे थे। सनातन धर्मी लज्जाराम मेहता, "आदर्श हिन्दू, उपन्यास में जातिगत भेदभाव को कोई सामाजिक समस्या नहीं मानते और न ही उनके दृष्टि में 'छुआछूत' से देश चौपट होने वाला है। उनके कथनानुसार, "यदि आपने उनका पेशा छुड़ाकर उन्हें उच्च वर्गों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आपको नाई, धोबी, भंगी और चमार नहीं मिलेंगे। उस समय आपको उन लोगों की जगह लेनी पड़ेगी। उनके उच्च वर्ण में शामिल हो जाने में हिन्दू समाज अधर्म की गर्त में डूब जाएगा। इसलिए ब्राह्मण को ब्राह्मण रहने दीजिए। ब्राह्मण से जूता सिलवाने का काम न लीजिए (आदर्श हिन्दू, भाग 2)"[11]

उपर्युक्त विचारों को परम्परागत, रुढ़िवादी विचार कहकर खारिज किया जा सकता है किंतु उनकी भावना दूषित एवं प्रगतिविरोधी दिखाई देती है। किंतु यह अपवाद स्वरूप नहीं है। जिसे हम हिन्दी साहित्य कहते हैं, दलित साहित्यकार उसे इसी प्रवृत्ति के कारण सवर्ण साहित्य कहते हैं। दलित साहित्कारों का तर्क है कि हिन्दी साहित्य इसी प्रवृत्ति से लबरेज है। दलित साहित्य इसी ब्राह्मणवाद

के विरूद्ध आम आदमी की चीख है जो निरंतर अपने परिष्कार से क्रांति का रूप ले रही है।

तेज सिंह आगे इसी दलित चेतना के निकष पर गैर-दलितों द्वारा लिखे दलित विषयक साहित्य को कसते हैं,"प्रश्न उठता है कि क्या उग्र अपने उपन्यास (मनुष्यानन्द) में दलित-विमर्श की प्रक्रिया वर्गीय आधार पर विकसित कर रहे थे या जातिगत आधार पर ? मनुष्यानंद के अध्ययन से पता चलता है कि उग्र दलितों में जाति के आधार पर ही ऐसी चेतना विकसित कर रहे थे। सवाल उठता है कि ब्राह्मणों की 'वसुधैव कुटुंबकम्' में क्या दलितों-पिछड़ों और अल्पसंख्यक वर्ग के लिए कोई जगह है ? स्पष्ट ही जवाब नकारात्मक होगा। फिर इस अवधारणा का दलित क्यों करें जो सिर्फ सवर्णों तक ही सीमित है ? क्या 'वसुधैव कुटुंबकम्' के आधार पर ही सवर्ण दलितों के विरुद्ध संगठित नहीं होता आया है?" [12]

आगे तेज सिंह दलित साहित्य की मूल भावना से उसकी (मनुष्यानन्द) तुलना करते हैं, "उग्र का मंदिर-प्रवेश का उद्देश्य उस समय असफल हो जाता है, जब वे मरते हुए प्राणी को ईश्वर के मंदिर में अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करने के लिए मंदिर प्रवेश कराते हैं। इस तरह मंदिर-प्रवेश से छुआछूत का प्रसंग गौण हो जाता है और ईश्वर से मुक्ति की प्रार्थना महत्वपूर्ण हो जाती है। क्या इसी तरह निराला के 'निरूपमा' उपन्यास को दलित विमर्श का उपन्यास माना जा सकता है? जबकि उसमें दलितों की समस्या पर विचार ही नहीं किया गया है। एक उच्च वर्ण का डॉ. कुमार नाम का व्यक्ति इंग्लैंड से पी.एच.डी. की डिग्री लेकर भारत में बेरोजगारी की हालत में चमार का पेशा अपनाते हुए न देखा गया है और न ही सुना गया है। फिर डॉ. कुमार तो सुविधा-सम्पन्न परिवार से संबंध रखता था, जो परिवार अपने बेटे को उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेज सकता है, वह उसके लिए रोजगार भी मुहैया करा सकता है या अन्य छोटा-मोटा काम करने के लिए धन भी मुहैया करा सकता है। दरअसल निराला को दलित समाज के लोगों की चिंता नहीं थी बल्कि वे तो प्रकारांतर से यह प्रेरणा देना चाहते थे कि दलितों को नए पेशों में जाने या अपनाने की बजाय अपने परम्परागत पेशे को अपनाते रहना चाहिए। यह निराला का बौद्धिक चातुर्य के अलावा और कुछ भी नहीं है। इसी तरह रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं' में प्यारी भी जातीय दर्प से भरकर सुखराम से कहती है, "देख मैं भंगिन-चमारिन नहीं जो मरद की

गुलाम बनकर रहूं।'' यह कौन-सी दलित चेतना है जो दलितों में परस्पर राग-द्वेष की भावना उत्पन्न करती है ?''[13]

किंतु यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि जब इन दलित विषयक उपन्यासों की रचना हुई तब उत्तर भारतीय समाजों में दलित समाज की यही बिखरी हुई स्थिति थी। वहां प्रत्येक जाति अपने जातीय गौरव के दर्प से चूर थी। क्या वर्तमान समय में दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कृत 'शवयात्रा' कहानी में चमार जाति द्वारा मेहतर जाति के प्रति उपेक्षा एवं कुछ सीमा तक अस्पृश्य व्यवहार को रेखांकित करना दलित साहित्य की अवधारणा में आता है? तब रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं' में प्यारी के कथन को अनुचित कैसे ठहराया जा सकता है? निस्संदेह, यहां लेखक की इस मानसिकता को दलित लेखक कठघरे में खड़ा अवश्य कर सकते हैं कि जब भंगिन-चमारिन सदा से समाज में पारिवारिक उत्पादक वर्ग की अभिन्न सदस्या रही है, तब उनका 'मरद की गुलामी' करने का कारण समझ से परे हैं। यह तथ्य सर्वविदित है कि दलित जातियों में तथाकथित सवर्ण जातियों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक स्वतंत्र रही हैं। बाल विवाह, बाल विधवा, सती प्रथा आदि कुरीतियां समाज के सवर्ण हिन्दुओं में ही व्याप्त रहीं। यह रांगेय जी के ब्राह्मण संस्कार ही माने जा सकते हैं, जो प्यारी के मुंह से वह ऐसे संवाद की रचना करवाते हैं। किंतु फिर भी गैर-दलित लेखकों में से कुछ लेखकों के लेखन को किसी भी तरह दलित चेतना के प्रतिकूल नहीं देखा जा सकता। मधुकर सिंह जी का 'जंगली सुअर' तथा गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट' इसी श्रेणी के उपन्यास हैं।

गैर दलित लेखकों को दलित लेखकों से यह शिकायत है कि वे उनकी ईमानदार नीयत पर संदेह करते हैं। वे (गैर-दलित) सवर्णों के अतीत के व्यवहार के लिए उन्हें दोषी भी मानते हैं और इस अर्थ में वे दलितों के पक्षधर भी हैं। दलितों के लेखन की कलात्मक अकुशलता को भी वे इसी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हैं।

श्री राजकिशोर जी के अनुसार, ''यह सच है कि कला और साहित्य की दुनिया में (भारत में) ऊंची जातियों का ही एकाधिकार रहा है। इसलिए अक्षरों की दुनिया में हाल ही में प्रवेश करने वाले सवर्णेत्तर जातियों के लेखकों से हम उस कलात्मक उत्कर्ष की उम्मीद नहीं कर सकते हैं जो एक सवर्ण लेखक को सहज ही उपलब्ध हो जाता है।''[14]

इधर दलित लेखकों का इस बारे में तर्क यह है कि सवर्ण लेखकों का अब तक का इतिहास उन्हें शंकालु होने पर मजबूर करता है। वे सवर्णों के दलित लेखन की ओर एकाएक पहल करने को प्रभुत्ववादी चेतना के रूप में लेते हैं। ध्यातव्य है, जब कथाकार अखिलेश जी से एक भेंटवार्ता में पूछा गया था कि क्या गैर-दलित भी दलित लेखन कर सकते हैं ? तब उन्होंने उत्तर में कहा था, ''अगर कर सकते थे तो अब तक क्यों नहीं किया ? अब चूंकि दलित खुद अपनी बात कहने के लिए आगे आ रहा था, तो उन्हें दिक्कत हो रही है कि वे क्यों नहीं लिख सकते हैं।''[15] वाकई यह एक अन्य तरह का प्रभुत्ववादी मन है जो उन्हें उद्वेलित करता है।

दलित साहित्यकार जयप्रकाश कर्दम जी का मानना है, ''दलित विमर्श पर जितनी बातें हो रही हैं, उनमें यह बताने की कोशिश की जा रही है कि दलित खुद को ठीक से अभिव्यक्त नहीं कर सकते और उनके सोचने का स्तर सवर्णों से कम है। दलितों की प्रगति चाहने वाले उनके साथ सही भावनाओं के साथ जुड़े तो कोई आपत्ति नहीं, लेकिन जब तक उनके गले में जनेऊ है यानी मन में संस्कार बैठे हैं, तब तक मानवीय समता की बात करना बेमानी है।''[16] कर्दम जी अपने तर्क में बिल्कुल सही हैं। किंतु जब तक भारतीय हिन्दू वर्ण व्यवस्था के सभी चिन्हों को त्याग नहीं देता, तब तक उससे दलितों के हित चिंतना की उम्मीद नहीं की जा सकती क्योंकि दलित लेखन का तो आधार ही वर्ण-व्यवस्था का ध्वंस तथा मानवता की प्रतिष्ठापना है।

लेकिन क्या कर्दम जी बताएंगे कि जिन दलितों की पैरवी वे कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश स्वयं उसी प्रवृत्ति का पोषण क्यों कर रहे हैं? यह बात किन्हीं अशिक्षित दलितों की नहीं है, अपितु शिक्षित एवं प्रगतिशील दलित साहित्यकारों की है। बकौल दलित साहित्यकार सूरजपाल चौहान, ''दलितों में भी एक तरह का 'चमारवाद' चल रहा है।''[17] इस संबंध में उनकी क्या राय है ? जहां तक गैर-दलित लेखकों का यह कहना है कि वे (दलित) स्वयं को ठीक से अभिव्यक्त कर पाने में पूर्ण सक्षम नहीं हैं, तब उनका तात्पर्य संवेदना से नहीं अपितु शिल्प से होता है। दलित लेखकों को यह तो मानना ही चाहिए शिल्प एक कुशलता है जो समय के साथ-साथ अर्जित की जाती है। निस्संदेह सपाटबयानी भी एक ढंग है किंतु उसमें भी संवेदना की अतिसूक्ष्मता की दरकार होती है। यह कुशलता अभी दलित साहित्यकारों को अर्जित करनी है।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार जवरीमल्ल पारेख इस संबंध में अपना दृष्टिकोण रखते हुए लिखते हैं, ''अब अगर इस तर्क को स्वीकार कर लेते हैं, जिसके अनुसार दलित ही उस सत्य को अभिव्यक्त कर सकता है जिसे वह भोगता है तो प्रत्येक रचना रचनाकार के अनुभव के दायरे में कैद होकर रह जाएगी और तब स्वयं दलित लेखन भी उन जीवनानुभवों के चित्रण से वंचित रह जाएगा जिसे उसने भोगा तो नहीं है लेकिन जिसके बिना स्वयं दलित यथार्थ अपनी सामाजिक सार्थकता को स्थापित नहीं कर पाएगा। मसलन क्या दलित जीवन की त्रासदी को सवर्णों के जीवन-यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में रखे बिना सही ढंग से समझा जा सकता है ? दलित इसलिए दलित है क्योंकि समाज का एक हिस्सा दलित नहीं है और जो हिस्सा दलित नहीं है, वह क्यों दलित नहीं है यही वह परिप्रेक्ष्य है जिसके द्वारा हम दलितों की व्यथा-कथा को समझ सकते हैं।

समाज के विभिन्न वर्ण और समुदाय अलग-अलग खानों में नहीं बंटे होते, वे सम्पूर्ण सामाजिक सरंचना में ही अपने अंतर्विरोधों के साथ सहयोग और संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरते हुए जीते और मरते हैं। इसलिए इस बात को ज्यादा अहमियत देना बेमानी है कि दलित यथार्थ का चित्रण केवल दलित ही कर सकता है, यदि इसका तात्पर्य यह है कि दलित यथार्थ ऐसा यथार्थ है जिसकी पीड़ा को सिर्फ दलित ही महसूस कर सकता है तो यह बात नारी यथार्थ पर भी उतनी ही लागू होगी। आखिर स्त्री की पीड़ा को पुरुष कैसे महसूस कर सकता है ? लेकिन सदियों से नारी जीवन की पीड़ा को पुरुष चित्रित करते आ रहे हैं और अभी भी विश्व साहित्य में नारी के संबंध में अधिक मानवीय और उदार दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा अधिकांशत: पुरुषों द्वारा लिखे गए साहित्य से मिल रही है, न सिर्फ पुरुषों को बल्कि स्त्रियों को भी। अत: यह कहना बहुत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि सिर्फ दलित ही दलित यथार्थ का सत्य चित्रण कर सकता है। जहां तक सहानुभूति से पैदा साहित्य का सवाल है तो हर महान साहित्य मानवीय सहानुभूति के बिना नहीं रचा जा सकता। सहानुभूति कोई दोष नहीं है। आमतौर पर लेखक मध्यवर्ग से आते हैं और वे सिर्फ मध्यवर्ग के जीवन-यथार्थ को ही अपने साहित्य का विषय नहीं बनाते।''[18]

पारेख जी का यह कथन युक्तिसंगत है कि दलितों के जीवन का पारस्परिक संबंध गैर-दलितों (सवर्णों) के जीवन से है। वह एकदम अछूता और निस्संग नहीं है। शोषित और शोषक का परस्पर आश्रित संबंध होता है। इस अर्थ में

दलित साहित्य का भी एक बड़ा हिस्सा स्वानुभूत नहीं बल्कि कल्पना-आश्रित ही ठहराया जा सकता है। किंतु वर्तमान हिंदी दलित साहित्य यथा आत्मकथा, कहानी, कविता, उपन्यास आदि में सवर्णों के समाज का चित्रण एक शोषक के रूप में ही होता है, जहां वह अपने वंशगत, जातिगत, विशेषाधिकारों तथा वर्चस्व को बनाए रखने के लिए शोषण करने को उतावला है। यह इतना प्रगाढ़ सत्य है कि दलित साहित्यकारों को कल्पना में विचरने की भी आवश्यकता महसूस नहीं होती। वे अपने साहित्य में सवर्णों के समाज के चित्रण की अपेक्षा अपनी व्यथा, कल्पित नरक से जीवन की ही हृदय विदारक कथा कहते हैं। जहां तक स्त्रियों पर लिखने की बात है, वह जब साफ हो चुका है कि स्त्रियों को पुरुष लेखकों ने अधिकांशत: देवी बनाकर या पतिता बनाकर (नारी नरक का द्वार) ही दिखाया है। स्त्रियों ने स्वयं इसे खारिज कर दिया है।

अंत में पारेख जी भी वर्ण और वर्ग को एक-दूसरे में मिलाकर देखने लगते हैं जो उचित नहीं है। कहावत है, जाके पैर न फटी बिवाई वो क्या जाने पीर पराई। भारत में बैठा लेकर लेखक रूस की शहर-गलियों का पढ़-सुन कर चित्रण करने लगे तो क्या वह प्रामाणिक होगा ? भारत में पला-बड़ा लेखक किसी अन्य देश की समाज-व्यवस्था में उस देश के लेखकों से अधिक प्रामाणिक ढंग से लिख सकता है ? बाबा साहेब अम्बेडकर ने कहा था, "सवर्ण और दलित जब आमने-सामने होते हैं तो वे सिर्फ व्यक्ति नहीं बल्कि वे दो देश होते हैं।" किंतु संभावना फिर भी है और वह पूर्वाग्रह रहित होने से उत्पन्न होती है।

हंस के एक लेख में ओमप्रकाश श्रीवास्तव जी लिखते हैं, "जब तक अनुसूचित जातियां अपने को शूद्र घोषित करती रहेंगी, तब तक पिछड़ी जातियां अपने को शूद्र नहीं कहलवा सकती। यह (अछूत) जगह खाली करें, तब तो पिछड़ी जातियां अपनी जगह पर आएंगी।"[19]

समझ में नहीं आता कि स्वयं को प्रबुद्ध कहने वाले लेखक भी इस मानसिकता से ग्रस्त हैं। तब कंवल भारती जी का यह कहना अनुचित नहीं है कि दलित ही दलित लेखन कर सकता है। श्रीवास्तव जी अब भी वर्ण-व्यवस्था का पोषण करने में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं। वे स्पष्टत: घोषणा कर रहे हैं कि वे (अछूत) जगह खाली करें अर्थात् जब तक वे हटेंगे नहीं (चूंकि वे उन्हें अपवित्र तथा अवांछनीय मानते हैं) तब तक शूद्र वहां कैसे आ सकते

हैं ? मनु का यह कथन कि कोई पंचम वर्ण नहीं है, सिर्फ चार ही वर्ण हैं, श्रीवास्तव जी को स्वीकार्य नहीं है। इस अर्थ में दो संभावनाएं उपजती हैं या तो अनुसूचित जातियां हिन्दू ही नहीं हैं और यदि हैं तो वे शूद्र (अंतिम वर्ण) की परिकल्पना में ही निहित है। श्रीवास्तव जी का क्या मानना है ? दलित साहित्य हिन्दू वर्ण व्यवस्था को ही अस्वीकार करता है। वह ऐसी किसी मान्यता को नहीं मानता जो मनुष्य में भेद करती है। हिन्दी साहित्य में अधिकांश गैर-दलित लेखकों (चुनिंदा लेखक अपवाद हैं) की दलितों और उनके साहित्य के बारे में या तो जानकारी नहीं है और यदि है तो बहुत कम और भ्रामक।

दलित लेखक सुरेश कुमार थोरात जी ने इस लेख के प्रत्युत्तर में समुचित जानकारी देते हुए लिखा है,"ओमप्रकाश श्रीवास्तव लिखते हैं कि डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक (श्रीवास्तव जी उसे लेख कहते हैं) 'शूद्र कौन थे?' में शूद्रों की उत्पत्ति क्षत्रियों से बताई है, परिणास्वरूप पिछड़ी जातियां अपने को क्षत्रिय सिद्ध करने के झूठे मोह में पड़कर समय बर्बाद कर रही हैं। मुझे खेद है कि श्रीवास्तव जी ने उक्त पुस्तक को ध्यान से नहीं पढ़ा। डॉ. अम्बेडकर ने यह नहीं कहा कि ब्राह्मणों से पराजित क्षत्रिय ही कालान्तर में शूद्र बना दिए गए। डॉ. अम्बेडकर ने वेद, महाभारत, स्मृतियों व पुराणों के आधार पर यह स्थापना रखी कि प्राचीन काल में शूद्र एक विशिष्ट समाज या समुदाय का विशेष नाम था न कि वर्ण का और वह क्षत्रिय के समकक्ष या उसका घटक वर्ग था। ब्राह्मण-क्षत्रिय व ब्राह्मण-शूद्र संघर्षों में क्षत्रिय व शूद्र पूर्णत: नष्ट नष्ट हो गए। लेकिन बाद के स्मृतिकारों ने क्षत्रिय वर्ण को बेचना शुरू किया और शूद्र समुदाय को चौथे वर्ण का दर्जा दे डाला और उसके खिलाफ क्रूरतम दण्ड-व्यवस्था की रचना की।"[20]

आगे वे इसी क्रम में लिखते हैं, "जहां तक पिछड़ी जातियों के वर्ण का प्रश्न है तो वे भी अछूतों की तरह अवर्ण ही है; क्योंकि सूत्रों व स्मृतियों में इनमें से अधिकांश का वर्ण-निर्धारण नहीं मिलता। राजाओं, कायस्थों, वैश्य या बनियों का अपमान सूत्रों, स्मृतियों व धर्मग्रंथों के काल में हुआ था, वह आज के पिछड़े व दलितों के अपमान से कम न था। मनु के अनुसार ब्राह्मण तीनों वर्णों का स्वामी है (मनु: 1.93)। ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र की हत्या उपपातक या नगण्य अपराध है (मनु 11.66)। ब्राह्मण का सामर्थ्य राजा के सामर्थ्य से अधिक बलशाली है (मनु 11.32)। स्त्री, वैश्य, शूद्र पापयोनि है) गीता 9.32।

बनिया, किरात, कायस्थ ..... चांडाल, भंगी और कोल ये सब अन्त्यज हैं (व्यास स्मृति 1.11.12)। यदि पिछड़ी जातियों का वर्णोन्नति का मोह प्रतिगामी है तो कायस्थों, बनियों, राजपूतों द्वारा अपने इतिहास सुनियोजित ढंग से भुलाकर ऊंचे बने रहने का मोह भी कम प्रतिगामी नहीं है।'' [21]

यह वास्तव में एक दुखद आश्चर्य की ही भांति है कि जब भी ब्राह्मणवाद के खिलाफ जन-समूह आंदोलित हुआ है, तब ब्राह्मणवादियों ने डिवाइड एंड रूल की नीति अपनाते हुए उनके प्रयासों को निष्फल कर दिया । बौद्ध धर्म एक क्रांति था जिसमें छदम् बौद्ध बनकर ब्राह्मणवादी घुसे और शनैः शनैः उसको ध सरित कर दिया। संत कवि कबीर को भी वे विधवा ब्राह्मणी से उत्पन्न करने में नहीं हिचकिचाए। संत रविदास को इस प्रवृत्ति का अनुमान था, अतः उन्होंने स्वयं को स्पष्ट शब्दों में 'खलास चमारा' उद्घोषित किया। किंतु फिर भी पुराणपंथी ब्राह्मणों ने उन्हें कथाओं में चमड़े का जनेऊ धारण करवा ही दिया। दलित साहित्य एक ऐसी ही क्रांति का नाम है जो ब्राह्मणवादी साहित्य (वर्चस्व का साहित्य) की जड़ों में

मधु-मट्ठा देने को अस्तित्व में आया है। दलित साहित्यकारों का मानना है कि वे दलित साहित्य में किसी परम्परावादी सवर्ण की दखलंदाजी बरदाश्त नहीं करेंगे। जबकि एक पक्ष उन गैर-दलितों के लिए सहर्ष द्वार खोलता है जो नेकनीयती और ईमानदारी से इस क्षेत्र में काम करना चाहते हैं।

सहानुभूति बनाम स्वानुभूतिः

प्रख्यात साहित्यकार एवं विचारक राजेन्द्र यादव जी का सहानुभूति और स्वानुभूति के प्रश्न पर स्पष्ट मत है, ''दलित चेतना को जगाने में सहानुभूति पहला कदम है। जब हम कहते हैं (या गांधी जी कहते थे) कि ये भी मनुष्य हैं। इनको दरिद्रावस्था में क्यों रखा जाय। तो ये सहानुभूति है। इससे यह जरूर हुआ कि दलितों के भीतर भी यह भावना जगी कि हम भी मनुष्य हैं और हमें भी अधिकार और सुविधाएं मिलनी चाहिएं। ये चेतना पैदा हुई। लेकिन कभी-भी सहानुभूति का साहित्य स्वानुभूति के साहित्य का स्थान नहीं ले सकता। जैसे कि विश्व साहित्य में नारियों के एक से एक रूप का चित्रण हुआ है। अपने यहां हिन्दी-बंगला में भी विविध रूपा नायिका वर्णन चित्रण हुआ है। बल्कि एक समय तो ये होड़ थी कि कौन कितनी विचित्र और तेजस्विनी नायिका का चित्रण करता है। जब महिलाएं खुद आने लगीं तो वे सारी नारियां गायब हो गईं। नारी

जब अपनी बात खुद कहने लगी तो वे सारी फीकी पड़ गई, क्योंकि वह सब सहानुभूतियां कहना चाहिए - परानुभूति का साहित्य है। जब साहित्य स्वानुभूति से लिखा जाता है तो उसकी 'जेनुइननेस' सहानुभूति के साहित्य से नारी तक प्रामाणिक होती है।" [22]

सुप्रसिद्ध आलोचक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह के अनुसार "यह बात सही है कि अनुभव की आंच में तपे बिना अनुकम्पा या सहानुभूति पर आधारित जो सृजन होता है, उसकी तुलना स्वानुभूति पर आधारित सृजन से नहीं की जा सकती। लेकिन जो रचनाकार स्वयं आंदोलन का हिस्सा बने, उनके साहित्य को आप सहानुभूति पर आधारित नहीं कह सकते। राहुल जी ने जब 1929-30 में आंदोलन की अगुवाई की और सिर पर लाठियां खाई, तब उनकी पीड़ा भी वही थी, जो किसी दलित की हो सकती है।" [23]

उपर्युक्त दोनों ही विचारों में हम यह तथ्य समान पाते हैं कि वे स्वानुभूति का पलड़ा सहानुभूति से भारी मानते हैं। किंतु क्या राहुल जी, राजेन्द्र यादव जी, अखिलेश जी, मुद्राराक्षस जी जैसे गैर दलित चिंतकों के साहित्य को दलित साहित्यकार सहृदय दृष्टि से देखते हैं ? दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय के मतानुसार, "दलित जीवन के चित्रण में जब-जब साहित्य का सृजन हुआ, तब-तब सहानुभूति का दबाव विशेष तौर पर रहा। इसे हम गैर-दलितों के द्वारा दलित साहित्य सृजन का प्रथम चरण भी मान सकते हैं। वह इसलिए कि कुछ संवेदनशील गैर दलित लेखकों ने इस तरह की रचनाएं समाज को दीं। इस आशा के साथ कि समाज में कुछ परिवर्तन हों और दलितों की स्थिति में थोड़ा-बहुत सुधार हो। लेकिन अकेले सहानुभूति से काम नहीं चलता क्योंकि सहानुभूति के पात्र विद्रोह नहीं करते। वे लाचारी और मजबूरी में जीते हैं। तब ऐसे साहित्य की आज के संदर्भ में क्या उपयोगिता है ?"[24]

कहानीकार काशीनाथ सिंह जी ने दलित कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की कहानियों में मुखरित नए तेवर और नए स्वर की चर्चा करते हुए कहा है,"सहानुभूति भी एक मूल्य है। यह चेतना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैल रही है - यह खुशी की बात है। हम तब तक लिख रहे हैं, जब तक आप हमें अप्रासंगिक न सिद्ध कर दें, हां यह मेरी हसरत है कि आप मुझे खारिज कर दें।"[25] यह टिप्पणी समस्या के वास्तविक हल को सुझाती है। यह कहां तक उचित है कि जो गैर-दलित लेखक एक नैतिक-सामाजिक कर्तव्य अथवा युगबोध की भावना

के तहत लिख रहे हैं या लिखना चाहते हैं, उन्हें अस्वीकार किया जाए। क्या समस्या को उठाना भी एक तरह की पक्षधरता नहीं है ?

प्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी जी को कफन में निश्चित तौर पर उस आक्रोश-विद्रोह के दर्शन नहीं होते, जो दलित साहित्य की आधार शिला है। प्रेमचन्द कृत 'कफन' इधर दलित चेतना एवं सोच के कारण काफी विवादों में रही। दलित साहित्यकार इसे दलित विरोधी कहानी के रूप में प्रचारित कर रहे हैं। इस संदर्भ में सुविख्यात विद्वान श्री मैनेजर पाण्डेय जी का यह कथन अत्यंत सार्थक है, कि दलितों को अपनी बात कहने का अब तक अवसर कहां था, अब वह अपनी बात स्वयं कहने की स्थिति में हैं, तब वह अन्य लेखकों के लेखन को अपनाएं या खारिज करें। किंतु विश्वनाथ त्रिपाठी जी का मानना है, ''जहां तक उस पीड़ा और यातना के चित्र खींचने का सवाल है, गैर-दलित लेखकों की कई रचनाएं मुझे यथेष्ट रूप से प्रभावित करती रही हैं। वे स्वानुभूति से पैदा भले न हुई हों, पर महज दया भाव मुझे वहां दिखलाई नहीं पड़ता।'' [26]

इसी तरह का एकांगी झुकाव उनके निम्नलिखित विचारों में मिलता है, ''एक चीज तो है जीवनानुभव और दूसरी बोध। जीवनानुभव हो भी, तो बोध का होना आवश्यक नहीं। और बोध हो भी, तो जरूरी नहीं कि निजी अनुभव से बना हो। यह बोध या चेतना ज्यादा जरूरी चीज है। निराला ने 'विधवा' पर कविता लिखी, खुद तो नहीं थे। प्रेमचन्द ने होरी जैसा किसान गढ़ा। यह सब बोध से पैदा हुआ है। हां बोध को भाव भी बनाना चाहिए। जब वह भाव बनता है, तब साहित्य की अंतर्वस्तु निर्मित होती है।'' [27]

किंतु दलित साहित्यकारों को इसी बात पर आपत्ति है कि इसका प्रमाण क्या है ? जब भी गैर-दलित लिखता है, वह पात्रों-परिस्थितियों का सृजन बहुत ही भोथरे और लिजलिजेपन से करता है। क्यों गैर-दलित साहित्य में दलित सम्मानीय दृष्टि में गोचर नहीं होता ? क्यों वह करूणार्द्र, आत्म सम्मानविहीन तथा बोदा चित्रित किया जाता है ? दलित साहित्य का यही वैचारिक प्रस्थान बिन्दु है जहां वे गैर-दलितों से भिन्न हो जाते हैं। किंतु त्रिपाठी जी का यह कथन औचित्यपूर्ण है कि बोध के अभाव में यातना पीड़ा, अन्याय, अत्याचार की अनुभूति ही कैसे संभव है ?

वे लिखते हैं,''दलितों के सवाल को ही लो। हमारी परम्परा ने सवर्णों की

ही तरह उनके मन में भी समाज व्यवस्था की 'हाइरारकी' को अच्छी तरह पचा दिया था। जैसे सवर्ण उसे सहज और नैसर्गिक मानते थे, वैसे ही शायद दलित भी। यानी यह भाव कि कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, खुदा सही सलामत है.. . "एवरीथिंग इज इट रेस्ट", पीछे जो मैंने दलित साहित्य के स्फूर्तिदायक होने की बात कही, वह इसलिए कि इस वर्ण-व्यवस्था की जो दाहकता है, उससे स्वयं दलितों का अबोध रहना प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए बड़ा कष्टप्रद था।

अब दलित साहित्य उस बोध का प्रमाण लेकर उपस्थित हुआ है। इसलिए उसमें प्राणवत्ता और ऊर्जा है। तो यह अमानवीयता के बोध के प्रखरतर होने से हुआ है। निरा जीवनानुभव क्या कर सकता है ? जहां तक विश्वसनीयता की बात है, उसका कोई फार्मूला नहीं है। साहित्य में अनुभव और बोध के अलावा भी कई घटक होते हैं। इन सबका जटिल संश्लेष होता है। उसी से विश्वसनीय और अच्छा साहित्य निकल पाता है। इसलिए जीवनानुभव पर एकांगी बल देना मुझे बहुत सुसंगत नहीं लगता।" [28]

त्रिपाठी जी के उपर्युक्त मत में एक अजीब विरोधाभास सा प्रतीत होता है, जैसा अक्सर अधिकांश गैर-दलितों के दलित साहित्य विषयक वक्तव्यों में दृष्टिगोचर होता है। एक तरह की पारदर्शिता जैसी पाण्डेजी और मुद्राराक्षस जी या राजेन्द्र यादव जी के विचारों में पाई जाती है, वह वहां नदारद दिखाई पड़ती है। एक ओर वे लिखते हैं कि बोध होना अनिवार्य है और दूसरी ओर उस बोध के पैदा न होने के कारणोल्लेख की अपेक्षा दलित को ही उसकी दयनीय स्थिति के लिए जिम्मेदार भी ठहराते हैं। निस्संदेह यह प्रबुद्ध वर्ग के लिए बड़ा कष्टप्रद था, परंतु यह प्रबुद्ध वर्ग इतने वर्षों तक क्या करता रहा ? इस पर वे प्रकाश नहीं डालते। अव्वल तो प्रबुद्ध वर्ग इस वर्ग के लिए अथवा इस वर्ग पर कुछ लिख नहीं रहा था और यदि किसी प्रबुद्ध जन ने इतनी हिम्मत दिखाई भी तो वह कुल मिलाकर उनके सम्पूर्ण साहित्य का सहस्त्रांश भी नहीं है। ज्योतिबा फुले ने अपने लेख में लिखा था, कि "इस सम्पूर्ण हत गति का कारण अशिक्षा है।" [29]

दलितों को अशिक्षित रखने का षडयंत्र किस समाज के प्रबुद्ध जनों का पुण्यकार्य रहा है ? वे अन्त में बोध की भी छुट्टी कर देते हैं और इसकी भी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "निरा-जीवनानुभव क्या कर सकता है ? उनके अनुसार जहां तक विश्वसनीयता की बात है, उसका कोई फार्मूला नहीं है।

साहित्य में अनुभव और बोध एकमात्र घटक नहीं है।''

इस संबंध में महिला कथाकार रमणिका गुप्ता जी प्रामाणिकता के लिए जीवनानुभव को आधारशिला मानते हुए लिखती हैं, ''दरअसल शिष्ट या अभिजन साहित्य इस योग्य ही नहीं है कि वह दलित, नारी या नीग्रो के मानस में सदियों से पल रहे आक्रोश अथवा पीड़ा को वाणी दे सकें। उसकी बंधी-बंधाई शैली में इतना व्यापक सत्य, इतना बड़ा यथार्थ और समाज को बदलने का इतना तीव्र और दृढ़ संकल्प समा ही नहीं सकता; जहां शिष्ट साहित्य के विपरीत दलित साहित्य में वस्तु प्रधान होती है, जो अनुभवजन्य होती है। अनुभव का सबसे प्रामाणिक और विश्वसनीय आधार स्वयं उसका अपना जीवन होता है; इसलिए दलित साहित्य में आत्मकथा की विधा का सबसे बड़ा स्थान है। इन आत्मकथाओं के नायक व नायिकाएं केवल अपने जीवन की ही नहीं बल्कि अपने पूरे समाज की बात करते हैं। जो समान रूप से मनुसंहिता का शिकार है। इनमें वे परकाय प्रवेश नहीं बल्कि स्वकाय प्रवेश ही करते हैं पर उका स्वकाय पूरे समाज का रूप हो जाता है।'[30]

दलित साहित्य : अधिकार का प्रश्न

प्रामाणिकता के इस प्रश्न के साथ ही कि दलित ही दलित लेखन प्रामाणिक रीति से कर सकते हैं, एक ओर प्रश्न उठता है कि क्या जन्मना दलित जो कुछ लिखे, वह दलित साहित्य की संज्ञा में निहित होगा। इस प्रश्न पर मूर्धन्य दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी लिखते हैं, ''नहीं ...। यदि एक दलित ब्राह्मणवादी सोच और वर्णव्यव्था की पक्षधरता का लेखन करता है तो वह दलित लेखक नहीं है। भले ही उसने दलित के घर में जन्म लिया हो। चूंकि दलित साहित्य में दलित चेतना, जो डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन से परिपक्व हुई है, के बगैर दलित साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है। दलित चेतना विहीन दलित रचनाएं अर्थहीन हैं।'' [31]

प्रकारान्तर से प्रश्न यह भी उठता है कि यदि तब कोई गैर-दलित ब्राह्मणवादी संस्कार और वर्णव्यवस्था के विरूद्ध लिखता है तो उसे दलित साहित्यकार माना जाना चाहिए अथवा उसके साहित्य को 'दलित साहित्य' की परिधि में शुमार होना चाहिए ? इस प्रश्न पर वाल्मीकि जी का तर्क बहुत ध ारदार आभासित नहीं होता, वे लिखते हैं, ''मेरी जानकारी में ऐसा कोई भी गैर-दलित लेखक नहीं है जिसके लेखन की मुख्यधारा दलित चेतना हो। लेकिन

जो लेखक सामाजिक बदलाव के लिए संघर्षरत है, जैसे राहुल सांकृत्यायन उन्हें हम अपना प्रेरणास्त्रोत मान सकते हैं।'' [32]

वाल्मीकि जी द्वारा राहुल सांकृत्यायन जी को प्रेरणा स्त्रोत स्वीकार करना किंतु वर्तमान युग के अनेक प्रगतिशील एवं परंपरा विद्रोही लेखकों को नकारना उसी अतीतजीवी प्रवृत्ति का परिचायक है जिसके त्रिपाठी जी शिकार हैं। ''वे भी ज्योतिबा फुले तथा अम्बेडकर की बहुत जरूरत' तो महसूस करते हैं किंतु 'डॉ. धर्मवीर वगैरह' के बिना उनका भी काम चल सकता है।'' [33]

आखिरकार दलित साहित्यकार क्यों और किस आधार पर गैर-दलितों के दलित-विषयक लेखन की विश्वसनीयता को खारिज करते हैं ? जैसा कि हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समाजग्रस्त परिवेश, संस्कार, सोच, दर्शन, भाषा, पहनावा तथा खान-पान के संश्लिष्ट ताने-बाने से रूप रंग पाता है। वे जीवनानुभव तथा बोध जो वह परिस्थिति अथवा परिवेश विशेष में संचित करता है, साहित्य के सृजन काल में नए रंगों में तथा कल्पना की तूलिका से नयी आभा में रूपायित होता है। अनुकूल स्थितियां पाकर यह सर्जनात्मक अभिव्यक्ति विभिन्न बिम्बों तथा प्रतीकों के माध्यम से जीवंत रचना का रूप पाती है।

इस प्रश्न पर वाल्मीकि जी का स्पष्ट मत है, ''गैर-दलित जो भी दलितों के बारे में लिखता है उसकी प्रामाणिकता इसलिए संदिग्ध होती है कि दलितों के जीवन के बारे में गैर-दलित सिर्फ उतना ही जानते हैं जितना उनका संपर्क श्रम से संबंधित होता है। उनके अर्न्तभाव उनकी सोच, उनकी मान्यताएं, जीवन मूल्य या उससे जुड़ी हुई अन्य चीजों को गैर-दलितों के पास जानने का कोई साध न नहीं है। यदि कभी उन्होंने कोशिश भी की है इन चीजों पर लिखने की; तो वो सब सुनी-सुनाई या मनगढ़ंत है, चूंकि दलितों से उनके सामाजिक रिश्ते सिर्फ उपयोग तक हैं। इसलिए गैर-दलित दलितों के घरों में होने वाले संघषों को तो जानते ही नहीं। यदि ऐसा न होता तो हिन्दी साहित्य में दलितों के चित्रण को लेकर सवाल ही न उठते।'' [34]

यह बहुत ही तथ्यात्मक एवं उचित तर्क है कि सवर्ण (गैर-दलित) दलितों के दायरों और उनके जीने-मरने के बारे में बहुत सीमा तक कल्पना से ही काम लेते हैं। उसका वास्तविक अनुभव लगभग नगण्य ही है। किंतु क्या ग्रामीण अथवा कस्बाई अशिक्षित दलितों के जीवन को छोड़कर शहरी शिक्षित दलितों के

प्रति प्रत्यक्ष छुआछूत या शारीरिक शोषण बिल्कुल नगण्य है? निस्संदेह भावनात्मक रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनका शोषण किया जाता है, परंतु इसके अतिरिक्त शहरी शिक्षित दलित का जीवन क्या सामान्य शहरी नागरिक की ही तरह नहीं है ? दलित होने की पीड़ा का दंश वाकई दलितों को आत्मसम्मान से न जीने का हक देता और न मरने का।''शहरों में मकान मिलने में असुविधा इसी क्रम में एक तर्क है।'' [35]

पटना जेसे शहरों में भी भूमिहार को भूमिहार के यहां और मैथिल ब्राह्मण को मैथिल ब्राह्मण के यहां किराये पर घर मिल सकता है। तब दलित भले ही वह शिक्षित और सभ्य हो, दलितों के टोले में रहने को बाध्य होगा ही। यहां इस प्रश्न पर भी विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि क्या दलित (जिसमें अनेक जातियां-उपजातियां हैं) भी अपने विभिन्न रूपों से उसी तरह अपरिचित नहीं है जिस तरह सवर्ण।

दलितों में भी जातिगत भेदभाव तथा ऊंच-नीच है। मीणा भील को हेय समझता है, भील कंजरों को हेय दृष्टि से देखता है। चमार भंगियों को नीच मानता है; खटिक चमारों से परहेज करता है और यहां तक कि खटिक अपनी ही उपजाति (सुअर-खटिक) को निम्न बताकर रोटी-बेटी का संबंध अवांछनीय मानते हैं। तब जातिगत दुर्ग तो वहां भी है, वहां भी प्रेम की सलिला कहां बहती है ? यह यही है कि गैर दलित दलितों के बारे में श्रम से संबंधित संपर्क के आधार पर ही जानते हैं, पर क्या दलित आपस में भी इसी आधार पर एक-दूसरे को नहीं जानते? क्या उनके रीति-रिवाज, मान्यताएं, आचार-विचार, जीवन मूल्य एक से हैं?

लखनऊ में कथाक्रम द्वारा आयोजित दलित साहित्य विषयक सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष मुद्राराक्षस जी ने दलित साहित्य के पक्ष में बोलते हुए कहा था कि दलितों में एक जाति मुसहर भी है जो चूहे मारकर खाती है। जिसके प्रत्युत्तर में दलित चिंतक कंवल भारती जी ने कहा था कि मैं दलित हूं परन्तु मैंने कभी चूहे नहीं खाए। तब भेद तो इस आधार पर दलितों के मध्य भी है। इस प्रश्न पर दलित साहित्यकारों का मानना है कि दलित साहित्य मूलत: वर्णव्यवस्था के आमूल-चूल उच्छेद और समतामूलक समाज का साहित्य है। उसका वास्तविक ध्येय दलित उपेक्षित शोषित होने की पीड़ा का चित्रण तथा जातिगत असमानता के विरूद्ध संघर्ष को अभिव्यक्त करता है। दलित साहित्य इन भेदों उपभेदों को

अस्वीकार करता है। जहां भी शोषण है, वह उसके विरुद्ध है। किंतु वे दृढ़ रूप से यह मानते हैं कि सभी दलित (भले ही किसी जाति के हों) समान रूप से सवर्णों के अत्याचारों को झेलते हैं। इन अत्याचारों तथा निम्न समझे जाने में वे सब सवर्ण दृष्टि में 'कॉमन' हैं। दलितों में आपसी मतभेदों पर विमर्श तथा अन्तर्मथन चल रहा है। संभवत: वे इसे अपने घर का मामला मानते हैं। शहरी दलित भी जातिगत हीनभाव को तो झेलता ही है।

वाल्मीकि जी भी प्रामाणिकता के प्रश्न पर अन्य दलित साहित्यकारों की ही भांति उद्‌गार व्यक्त करते हैं परन्तु उनके तर्क इस संबंध में कुछ भिन्न हैं। वे कहते हैं,"हिन्दी साहित्य में अनेक महान साहित्यकारों ने दलितों से सहानुभूति रखकर छिटपुट साहित्य रचना की। ये छिटपुट रचनाएं उनके साहित्य की मुख्यधारा नहीं थी, लेकिन करूणावश या सहानुभूतिवश उन्होंने ऐसा किया। मुझे नहीं लगता कोई सामाजिक दबाव उन्हें बाध्य कर रहा था, इस तरह का लेखन करने के लिए। यदि ऐसा होता तो उस सामाजिक व्यवस्था का ये रचनाकार विरोध कर रहे होते, लेकिन देखने में ठीक इसके विपरीत है। चाहे प्रेमचन्द हो या निराला, दोनों ही वर्णव्यवस्था के पक्षधर हैं। यहां तक कि बाबा नागार्जुन, जिन्होंने कई वर्षों तक बौद्ध धर्म अपनाकर रखा बौद्ध भिक्षु बने, लेकिन अंत तक वो एक ब्राह्मण ही रहे। उनकी चिंताओं में जब दलितों की नयी पीढ़ी आएगी और बंदूक लेकर पैदा होगी, तब तो क्रांतिगीत नहीं गायेंगे, बल्कि वेद 'ऋचा' ही लिखेंगे। ये वेद ऋचा लिखने का आग्रह कवि के मन में क्यों उत्पन्न हुआ। लेकिन जब दलित साहित्यकार लिखता है, जीवन के दग्ध अनुभव के कारण वह वर्णव्यवस्था और ब्राह्मण व्यवस्था के विरूद्ध अपनी पूरी उत्तेजना के साथ आता है और उसे समूल नष्ट कर देने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता है। वहां उसके अनुभव हैं, अनुभूतियां हैं जिनसे तपकर दलित रचनाएं साकार होती हैं।"[36]

कदाचित इसलिए दलित साहित्यकार दलितों में व्याप्त आपसी मतभेद को गौण मानकर इसके लिए आत्म-मंथन की राह सुझाते हैं क्योंकि यह भेदभाव तथा वर्गीकरण ब्राह्मणवादी व्यवस्था का ही प्रतिफलन है। वस्तुत: दलित साहित्य इसी प्रवृत्ति का घोर विरोधी है। कुछ आलोचकों का मानना है कि इस तरह से साहित्य में नीरसता और संकीर्णता उत्पन्न होती है। दलितों को बड़े प्रश्नों के संदर्भ में अपनी स्थिति से अवगत होना चाहिए। वे साहित्य की न्यूनतम शर्तों की अपेक्षा तो दलित साहित्य में करते ही हैं।

आलोचक अजय तिवारी जी के अनुसार, ''स्वानुभूति पर बल मूलत: अस्तित्ववादी धारणा है और अस्तित्ववाद पूंजीवादी विचारधारा है। स्वानुभूति वाला तर्क नयी कविता का तर्क है - अनुभूति की प्रामाणिकता। यही तर्क दलित लेखकों का है क्योंकि हम दलित हैं। इसलिए उसका प्रामाणिक अनुभव हमें है, उस पर सच्ची प्रतिक्रिया हम ही व्यक्त कर सकते हैं और शायद इसी कारण साहित्य की नहीं, दलित साहित्य की बात की जाती है। उसे आप दलित अभिव्यक्ति कहें; दलित साहित्य कहने पर क्यों जोर है ? चूंकि उसमें दलित के साथ साहित्य भी है, इसलिए जिस अंश में वह साहित्य है, उस अंश में उसे साहित्य की सामान्य कसौटी पर ही परखा जाएगा; क्योंकि उसका विषय दलित जीवन से संबंधित है, इसलिए वह दलित साहित्य है, पर है साहित्य ही। .... अच्छा साहित्य केवल अपने अनुभव पर ही नहीं लिखा जा सकता। अपने अनुभव को भी तटस्थ होकर देखना और वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करना अपने अनुभव को समाज और इतिहास की प्रक्रिया में रखकर उसे जीवन्त बनाना साहित्य के लिए आवश्यक है।'' [37]

इस तमाम विमर्श के पश्चात एक तथ्य बहुत ही स्पष्ट होकर उभरता है कि दलित साहित्यकारों को गैर-दलित साहित्यकारों पर पर्याप्त शुबहा है। इसे वे एक षड्यंत्र की ही भांति देखते हैं। वे अतीत में से इसी परंपरा के हवाले भी देते हैं। उन्हीं गैर-दलितों में से एक दलित चिंतक मुद्राराक्षस जी इसकी जानकारी देते हुए हिंदी के दो विद्वानों के दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालते हैं, ''रामजन्मभूमि नाम के आंदोलन के साथ खड़े विचारों को बल देने के लिए अस्सी के दशक के पूर्वार्ध में जहां एक ओर बजरंग दल जैसे संगठन रामरथ की तैयारी कर रहे थे, वहीं हिन्दी के वरिष्ठ रचनाकार अज्ञेय ने जानकी यात्रा का नेतृत्व किया था।

सांप्रदायिक संगठनों की विचारधारा का केन्द्र भी रामकथा का महाकाव्य था और अज्ञेय ने भी देश की समस्त सांस्कृतिक चेतना को रामकथा में ही देखा था। विष्णु स्वरूप राम एक प्रभादीप्त तेजोमंडल में आत्मस्थ हो जाते हैं ... इसी के साक्षी सब देव-देवता, यक्ष, नाग, ऋषि, सिद्ध और मानुष मात्र हैं ....। ... इसी रामकथा को हिन्दी में मार्क्सवादी लेखक रामविलास शर्मा ने भी लगभग इतना ही भावविभोर होकर गौरवान्वित किया है, ''क्या यूरोप, क्या एशिया, किसी महाकाव्य का नायक इतना लोकप्रिय नहीं हुआ जितना रामायण के राम हुए हैं।

उनके चरित्र में कुछ ऐसी विशेषता है जो केवल भारतीय जानता की नहीं वरन मानवमात्र की भावनाएं व्यक्त करती है।'' यह मात्र संयोग नहीं है कि रामकथा को पुनरुज्जीवित करने वाले राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद या भारतीय जनता पार्टी संगठन भी ब्राह्मणवादी संगठन हैं और रामकथा को साहित्य में आरोपित करने वाले अज्ञेय और रामविलास शर्मा भी ब्राह्मण हैं।'' [38]

डॉ. शर्मा प्राचीन समय के दस्युओं के प्रति निर्ममता से पेश आते हैं और वर्तमान में दलितों के साहित्य के प्रति असहिष्णु हैं। क्या ऐसे मूर्धन्य साहित्यकारों-आलोचकों के इस बर्ताव के चलते दलित उनसे कुछ आशा रखें। साहित्य के रूप में डॉ. रामविलास शर्मा दलित लेखन की गुणवत्ता और साहित्यिक विमर्श में उठे मुद्दों के औचित्य पर भी टिप्पणी करते हुए सहानुभूति बनाम स्वानुभूति या प्रामाणिकता की बहस को अप्रांसगिक बताते हैं। उनके अनुसार साहित्यकार साहित्यकार है चाहे वह किसी जाति या धर्म का हो। उनका यह स्पष्ट मत है कि इस बहस के चलते गैर-दलितों ने दलित जीवन पर लिखना ही बन्द कर दिया है क्योंकि वे अपने लेखन की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के अनपेक्षित विवाद में नहीं पड़ना चाहते। डॉ. शर्मा के अनुसार, ''भाषा एक सामाजिक विरासत है जिसके निर्माण में विभिन्न वर्गों एवं वर्णों की भूमिका होती है। यही नहीं दलित लेखन को साहित्यिक भाषा सीखनी और विकसित करनी होगी क्योंकि सिर्फ गाली और आक्रोश से साहित्य नहीं बना करता।'' [39]

डॉ. शर्मा की वेदमुग्धता जग-जाहिर है ही। मुद्राराक्षस जी के अनुसार, ''आश्चर्य होता है कि रामविलास शर्मा का यह अंधविश्वास है या इतिहास दृष्टि। वे यह भूल जाते हैं या शायद देखना नहीं चाहते कि यास्काचार्य के पूर्ववर्ती कौत्स जैसे भारतीय विद्वानों ने ही वेदों को दर्शन-विहीन कविताएं कहा था और वेदों की आध्यात्मिकता का कटु विरोध किया था। लगभग तीन हजार बरस पहले यज्ञों के कटु आलोचक तुरकावषेय जैसे अध्येता भी मौजूद थे। ... डॉ. रामविलास शर्मा इस तरह की घटनाओं पर यह कहकर संतुष्ट होते हैं कि वे मायावी राक्षस और पिशाच थे। असुर थे , दस्यु थे। इन्द्र प्रसूति ग्रह में ही विरोधपक्ष की एक स्त्री की हत्या करता है (मं: प. सूक्त 18, मंत्र 8, भाष्यसायन), पर प्रसूतिग्रह में मारी जाने वाली स्त्री से भी रामविलास शर्मा की सहानुभूति नहीं है। ... किसी को भी इस बात पर हैरानी हो सकती है कि मार्क्सवादी डॉ. रामविलास शर्मा ने 1857 के विद्रोह को जनक्रांति के रूप में देख

लिया था फिर वैदिक सुखासीनों और पुरोहितों का विरोध करने वाले असहमत समाज को वे मायावी राक्षस पिशाच कैसे मानने लग गए। रामविलास शर्मा मार्क्सवादी हैं, वे वर्तमान सामन्तों, सुखासीनों, धनपतियों और पुरोहितों के विरूद्ध जन संगठन की सिफारिश करते हैं; पर भारतीय अतीत के इन्हीं सामन्तों, पुराहितों, सुखासीनों को देवता और आर्य घोषित करते हैं।''[40]

मुद्राराक्षस जी के उपर्युक्त विवेचन को यदि आधार माना जाए तो दलित साहित्यकारों के आरोप में सत्यता नजर आती है। ऐसे मूर्धन्य साहित्यकारों की दृष्टि यदि इतनी संकरी है, तब उनके वर्ग के अन्य लोगों से क्या अपेक्षा की जा सकती है। अंततः वे ब्राह्मणवाद की ही रक्षा करते दिखाई देते हैं क्योंकि इसमें उनके निहित स्वार्थ हैं। दलित साहित्य और साहित्यकार एकाधिकार और वर्चस्व की इसी भावना के विरोध में खड़ा है। वह उन तमाम व्यवस्थाओं को नकारता है जो मनुष्यगत भेदभाव में विश्वास रखती हैं।

इस सम्पूर्ण विवेचना के बावजूद जिसमें साहित्य के प्रकांड-प्रखर विद्वानों की सम्मतियों के साथ-साथ दलित साहित्य के पैरोकारों के विचार भी सम्मिलित हैं। किसी ठोस, खरे निष्कर्ष पर पहुंच पाना मुश्किल प्रतीत होता है। किंतु बकौल पाण्डे जी 'राख ही जानती है जलने के अनुभव को खारिज कर पाना भी संभव नहीं लगता। दलित साहित्यकारों की प्रतिबद्धता, क्रांतिकारिता इस संदर्भ में अवश्य उल्लेखनीय है कि वे नया पथ बना रहे हैं। गैर दलितों को दलित विषयक साहित्य लिखना चाहिए क्योंकि यह युग की जरूरत है, यह आत्ममंथन के लिए भी आवश्यक है। दलित साहित्यकार स्त्री विमर्श की ही तर्ज पर उन्हें 'दलितों के लिए' साहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं। यह अधिकार तो दलित साहित्यकारों को ही दिया जा सकता है कि वे किस रचना को दलित साहित्य की परिभाषा, परिधि में स्वीकार करते हैं। उन्होंने अत्याचार - अन्याय सहते हैं और दृष्टि की ईमानदारी उनसे बेहतर और कौन पहचान सकता है।

अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व भारतीय समाज की अमानवीयता की बानगी देखिए।

''9 मई 1931 के टाइम्स ऑफ इंडिया के अनुसार, ''बड़ौदा राज्य में एक अंत्यज महिला को सवर्णों ने इसलिए जीवित जला दिया कि उसने अपने छोटे बच्चे को स्थानीय पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजने का दुस्साहस किया था।

14 दिसम्बर 1929 के आर्य गजट के अनुसार, ''गुरुदास पुर जनपद में कुछ अछूतों (चमार, धोबी, महार) के जनेऊ धारण करने पर राजपूत हिन्दुओं ने उन्हें मार-मार कर अधमरा कर दिया।

21 जनवरी 1928 के आर्य गजट के अनुसार, ''शिमला में कुछ अछूत कुलियों को इसलिए जेल भेज दिया गया, क्योंकि उनकी महिलाओं ने सोने के कुण्डल पहन रखे थे। कुण्डलों को राजय अधिकारियों के हवाले करने के बाद ही उन्हें रिहा किया गया।

''राजस्थान के भरपुर जिले में 1992 में हुए कुम्हेर नरसंहार में 17 दलित मारे गए थे। भंवरी देवी नामक दलित स्त्री के मामले में भी न्यायालय ने दोषियों को निरपराधी पाया।

ये घटनाएं किसी व्यक्ति के साथ आपसी रंजिश के तहत नहीं, अपितु एक समाज की दूसरे समाज के प्रति घृणा और असहिष्णुता का परिचायक हैं। संभवत: इसी अर्थ में दलित साहित्यकार इस बात का दावा पेश करते हैं कि दलित ही दलित साहित्य लेखन प्रामाणिक ढंग से कर सकते हैं। इन घटनाओं के भोक्ता यदि अपनी व्यथा-कथा लिखें, तो निस्संदेह भाषा की बनावट बुनावट महीन न हो, पर रंग वास्तविक ही होंगे। अत: वर्तमान में दलित साहित्यकारों का यह दावा उचित ही प्रतीत होता है और भविष्य में अपनी रूपरेखा और स्पष्ट करके वह उपस्थित होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 भीष्म साहनी, कसौटी अंक 1 पृ 13

2 वही

3 प्रो॰ मैनेजर पाण्डे, दलित चेतना साहित्य, नवलेखन प्रकाशन पृ 4

4 तद्भव संपादक अखिलेश, अंक 4 अक्तूबर 2000 पृ 48

5 अजय वर्मा, दलित लेखन के खतरे, हंस नवम्बर 1998 पृ 81

6 वही

7 हंस जनवरी 2001, पृ 53

8 वही

9 तेज सिंह, हिन्दी उपन्यासः दलित विमर्श पुराख्यान, हंस जनवरी 2001 पृ 28

10 वही

11 वही

12 वही

13 वही

14 राजकिशोर, 20 मई, 2001, जनसत्ता

15 मुद्राराक्षस, कथाक्रम,नवम्बर 2000 पृ 3

16 दलित चेतना साहित्य, नवलेखन प्रकाशन पृ 100

17 सूरज पाल चौहान, कल के लिए दिसम्बर 1998 पृ 53

18 झबरी मल्ल पारख, कल के लिए दिसम्बर 1998 पृ 34-35

19 ओम प्रकाश श्रीवास्तव, हंस अप्रैल 2000 पृ 60

20 सुरेश कुमार थोरात, हंस जून 2000 पृ 45

21 वही, पृ 46

22 कल के लिए, दिसम्बर 1998 पृ 61

23 वही

24 वही

25 हंस, जनवरी 2001 पृ 54

26 कल के लिए, दिसम्बर 1998 पृ 15

27 वही, पृ 16

28 वही, पृ 15

29 राम सूरत भारद्वाज, दलित चेतना सोच, नवलेखन प्रकाशन पृ 99

30 रमणिका गुप्ता, दलित चेतना साहित्य पृ 6

31 कल के लिए, दिसम्बर 1998 पृ 18

32 वही

33 वही, पृ 16

34 वही

35 शरण कुमार लिंबाले, अक्करमाशी, पृ 164

36 कल के लिए, दिसम्बर 1998 पृ 17

37 वही, पृ 21

38 मुद्राराक्षस, हंस, दिसम्बर 2000 पृ 45

39 राम विलास शर्मा, तद्भव अंक 4, अक्तूबर 2000 पृ48

40 मुद्राराक्षस, हंस, दिसम्बर 2000 पृ 16

नाच्यौ बहुत गोपाल : प्रामाणिकता का प्रश्न

क. नागर जी : आईने में

ख. उपन्यास : संवेदना और शिल्प

ग. उपन्यास : दलित जीवन के सत्य

नाच्यौ बहुत गोपाल : प्रामाणिकता का प्रश्न

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस स्थिति में उसका अस्तित्व, उसका व्यक्तित्व पूर्णतः समाज निरपेक्ष नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने जन्म के साथ एक परिवार, एक धर्म तथा भारतीय संदर्भ में एक जाति भी प्राप्त करता है। इसमें स्व-अर्जित कुछ नहीं है किन्तु फिर भी वह तीव्रता से, उत्कटता से इन संबंधों को, इन संस्कारों को एक आयु-सीमा तक अवश्य जीता है। उसका उस समाज के प्रति उत्तरदायित्व होता है। वह पारिवारिक संस्कारों, आचार-विचार, खान-पान, पहनावे तथा भाषा के लिए प्रतिबद्ध होता है। तदुपरांत अन्य समाजों के सम्पर्क में आने तथा विभिन्न समाजों के अध्ययन से वह अपने परम्परागत तथा पैतृक विचारों पर चिंतन-मनन तथा तुलनात्मक अध्ययन करता है। इस चिंतन-मनन-अध्ययन के मंथन के पश्चात उसके दो रूप स्पष्ट होकर निकलते हैं। एक, अपने पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त परम्परागत विचारों का पोषण तथा दूसरा, विरासत में मिले संस्कारों, विचारों के विरुद्ध विद्रोह। यदि हम भारतीय संदर्भ में इस वैचारिक मंथन को नागर जी तथा जाति-व्यवस्था के मामले में केन्द्रित करें, तो यह विषयांतर न होगा।

नागर जी आईने में

प्राचीन भारतीय समाज स्थूलतः चार वर्गों में विभक्त था। ये वर्ग, जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, कालांतर में जन्म आधारित होने के फलस्वरूप जटिल, अगम्य, अलंघ्य हो गए और इन्होंने वर्ण का चोला पहन जातिगत वैषम्य के घिनौने नख-दंत निकाल लिए। जीवन सतत परिवर्तनशील है। समाज में अनेक उतार-चढ़ाव आए। सुधार हुए, संघर्ष हुए और फलश्रुति में विभिन्न सामाजिक रूप दृष्टिगोचर हुए।

आज भारतीय समाज अस्पृश्यता और सामाजिक बहिष्कार के दुष्चक्र से बाहर सवर्ण [परम्परावादी] और दलित [नवोन्मेषवादी] के मध्य विभाजित हो गया है। सवर्ण वे हैं जो अन्याय, असमानता तथा असहिष्णुता के पक्षधर हैं तथा न्याय, बंधुता, समता तथा प्रेम के वाहक दलित हैं। भारतीय समाज ब्राह्मणवादी तथा सामंती सोच के फलस्वरूप सहस्त्राब्दियों से गुलाम-शोषित तथा लगभग अराजक स्थिति में रहा है। इसी शोषण, गुलामी तथा अराजकता के

विरुद्ध उठ खड़े प्रगतिशील लोगों की लामबंदी दलित-चेतना है। जैसा कि अध्याय दो में हमने स्पष्ट किया था कि इसी चेतना की पताका लेकर चलने वाला साहित्य दलित साहित्य है। इस साहित्य का रचयिता दलित साहित्यकार है। चूंकि साहित्यकार भी प्रथमत: मनुष्य है, व्यक्ति है, अत: उसका भी एक व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक परिवेश होता है। जहां वह सांस लेता है, जीवन का स्पंदन अनुभव करता है तथा वस्तुओं को स्वीकार-अस्वीकार करता है। इस अर्थ में किसी साहित्यकार के समग्र आंकलन में तथा रचनात्मक कर्म में उसके व्यक्तिगत जीवन के अध्ययन की महत्ता किसी भी तरह न्यून नहीं है। क्योंकि उसका साहित्य उसके व्यक्तिगत जीवनानुभवों से ही स्पंदन पाता है।

महान साहित्यकार सर्वश्री अमृत लाल जी नागर का जन्म 17 अगस्त 1916 को गोकुल पुरा आगरा [उ.प्र.] में हुआ। उनके पिता का नाम पं. राजाराम नागर और माता का श्रीमती विद्यावती नागर था। यहां यह स्पष्ट करना विषयानुकूल ही होगा कि वे एक कुलीन ब्राह्मण जाति में जन्मे थे। परिवार सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित भी था। परिवार में तत्कालीन बुद्धिजीवियों, रंगकर्मियों तथा साहित्यकारों का भी समागम सामान्यत: होता था। बाबू श्याम सुन्दर दास, पं. माधव शुक्ल आदि महानुभावों का व्यक्तिगत सान्निध्य इसका प्रमाण है । नागर जी कम्युनिस्ट कभी न रहे, प्रगतिशील अवश्य रहे । वे धार्मिक व्यक्ति थे। नागर जी स्वयं लिखते हैं, ''शैव आस्तिक हूं घरेलू संस्कारों से धार्मिक हूं अपने ढंग से। मेरा किसी धर्म किसी जाति से परहेज नहीं। मेरा धर्म मुझे मानव-मात्र से बांधता है।''[1]

नागर जी आस्तिक ही नहीं शैव भी हैं, भले ही घरेलू संस्कारों से, जबकि उनके पिता शक्ति के आराधक [शाक्त] रहे। वे लिखते हैं, ''मृत्यु से लगभग सालभर पहले ही उनकी [पिता जी] देवी भक्ति अत्यधिक बढ़ गई थी। मैं समझता हूं कि अपनी शिक्षा संबंधी महत्वाकांक्षा को लेकर निराश हो जाने के कारण उनका मन संसार से विरक्त हो गया था।'' [2]

साथ ही नागर जी के हृदय में राम [भगवान राम] की मूर्ति अचल विराजमान थी। तुलसीदास के वे अनन्य प्रशंसक थे। अपने बंबई प्रवास में नियमित रूप से साप्ताहिक मानस-वाचन कार्यक्रम को भी वे भाव-विभोर होकर सुनते थे। वे लिखते हैं, '' अनिल के बम्बई छोड़ने से पहले तक बरसों यह रविवासरीय मानस गोष्ठी बराबर जमती रही। बम्बई जाने पर मैं भी इस गोष्ठी में सम्मिलित

होता था।''[3]

नागर जी की आस्था अद्‌भुत है। वे पुरानी जड़ मान्यताओं के विरोध में हैं किंतु अपनी आस्था में किसी तरह की त्रुटि-कोताही के लिए वे आजीवन तैयार न हुए। वे लखनऊ के चौक में पले बढ़े तथा रहे। परिवार तथा समाज के संस्कारों का उन पर गहरा प्रभाव था। प्रश्न यह उठता है कि क्या वे शैव आस्था में विश्वास रखते थे [भले ही घरेलू संस्कारों से] ? इस प्रश्न पर कोई भी विचार अथवा निर्णय करने से पूर्व हम उनके ही कथनों को ध्यान से दृष्टिगत करें तो समीचीन होगा।

''सन् 71-72 से अब तक बीस-पचीस बार अयोध्या जा चुका हूं। जब जी उमड़ा कि घट-घट व्यापी राम के ऐतिहासिक रूप की कुछ थाह पाऊं, तब-तब झोला लटकाया, फैजाबाद की बस पकड़ी और अयोध्या पहुंच गया। .....[आगे]. ..... संतों-महंतों के मुखों से निकले भक्ति पगे शब्दों में इतिहास न सही पर अनेक घट में विराजमान रामजी की कुछ-कुछ झलक आवश्य पाई। पर मन कभी छक न पाया। चित्रकूट केवल एक ही बार गया हूं। वहां की तो बयार भी राम-राम बोलती डोलती है। भावसिंधु के ज्वार में कामदगिरि पर बैठे श्रीराम जानकी को तापस वेश में देखकर लगभग बेसुधी के आलम में भी पहुंचा था।''[4]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर यूं तो उनके दृष्टिकोण की अनेक बातें स्पष्ट होती हैं, किंतु स्पष्टतया दो तथ्यों को बिल्कुल नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। पहला, वे शैव ही नहीं, अपने ढंग के वैष्णव भी हैं तथा दूसरा, वे अपने घट-घट व्यापी 'रामजी' के रूप से कभी छक नहीं पाए। भले ही इसके लिए उन्हें इस पूरी पुराण कथा के ऐतिहासिक तत्व को भी विस्मृत करना पड़ा हो। उनका संपूर्ण अस्तित्व तथा मन-मस्तिष्क 'रामजी' के रूप से अभिभूत है। वे उन्हें घट-घट में व्यापी देखते हैं। आश्चर्य है कि इसके पश्चात भी उनका किसी धर्म, किसी जाति से परहेज नहीं। किंतु उन्हें किसी अन्य धर्म या जाति से प्रेम भी है अथवा नहीं, यह वे स्पष्ट नहीं करते। नागर जी जैसी अनन्य लगभग अंध श्रद्धा 'रामजी' के मामले में दिखाते हैं, लगभग कमोबेश वैसी ही उनकी पूरे राम परिवार में है। वस्तुतः उनके भीतर भी उनके 'गोसाई बाबा' का ही एक लघुरूप अपने पूरे स्वरूप के साथ बैठा था। अज्ञेय जी द्वारा जानकी-यात्रा आयोजन में भी वे सश्रद्धा पहुंचे थे। यह उनकी राम के प्रति अनुरक्ति ही थी।

वे लिखते हैं, '' जो हो, इस बार आदरणीय भाई अज्ञेय जी के स्नेहाग्रहवश उनके द्वारा आयोजित जानकी जीवनयात्रा में अयोध्या-नंदिग्राम की ढैयां धूने मैं भी गया था।''[5]

यह विचित्र विरोधाभास ही है कि एक तेजस्वी व्यक्ति, एक प्रखर-प्रबुद्ध साहित्यकार सब कुछ जानते हुए भी ऐतिहासिक तत्वों की अवहेलना ही नहीं करता बल्कि व्यक्तिगत अरुचि के बावजूद परम्परावादियों से एक स्तर पर आत्मीयता महसूस करता है? क्या वह समाज परिवर्तन कि दिशा में उनके विरुद्ध लड़ सकता है? क्या कहीं गहन स्तर पर उन दोनों के ही सूत्र आपस में जुड़े हुए नहीं हैं? क्या ऐसे साहित्यकार का साहित्य इस अमूर्त भाव-वैभोर्य से अस्पृश्य रह सकता है?

नागर जी लिखते हैं, ''मुझे अयोध्या के अधिकांश महंतों और उनकी तोते जैसी खोखली राम-रट से भले ही अरुचि हो पर भक्ति के गलियारों में, बेपनाह अलगाव होने के बावजूद, कहीं न कहीं हमारे भाव एक-दूसरे को छू भी लेते हैं -राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। जिस हृदय में सियाराम विराजते हैं वह स्थूल, सूक्ष्म और करण कायाओं से कहीं अलग है। गहरी घुटन-भरी तनहाइयों में भी जो ताजा बयार के निर्मल झोंके-सा अपनी छुवन का आभास करा जाता है, उसकी प्रतीति का परिचय अपने शब्दों में देने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है''।[6]

और वह सामर्थ्य उन्हें अपने आराध्य के प्रशस्ति-गायक तुलसी दास जी की पंक्तियों में ही दिखता है जिसे वे आगे उद्घृत करते हैं। ध्यातव्य है कि नागर जी के घट-घट व्यापी 'रामजी' शूद्र वर्ग के 'दुस्साहसी' तपस्वी शंबूक की हत्या के अपराध में दलित वर्ग की नजरों में दफा 302 के अपराधी भी हैं। उनके 'रामजी' सीता की अग्नि-परीक्षा जैसे जघन्य अपराध और तत्पश्चात भी उसके निर्वासन के लिए भारतीय स्त्रियों की नजरों में अक्षम्य अपराधी हैं। किंतु इन सब ऐतिहासिक तथ्यों की नागर जी उपेक्षा करते हैं और उन्हें रामजी की सुध रहती है। ''पास ही वह जगह है जहां लंका-विजेता श्रीराम लौटने पर श्री भरत से मिले थे। हालांकि राम-भरत भेंट अयोध्या मे हुई थी। .... बहरहाल राम-भरत भेंट की यह जगह प्रामाणिक हो या न हो, मगर बात मन को छूती अवश्य है।''[7]

यहां अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। जैसा कि हम उपर्युक्त विवेचना में स्पष्ट पाते हैं कि क्या नागर जी का व्यक्तिगत पारिवारिक तथा सामाजिक व्यक्तित्व वैष्णव धर्मा (जबकि बकौल

नागर जी वे शैव हैं।) नहीं है? आखिरकार वैष्णव धर्म ने तो शूद्रों के भी धार्मिक अधिकार तथा भक्ति की पैरवी की है। कृष्णदास जी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण रहे जो मंदिर के प्रमुख कर्त्ता-धर्ता बने। गीता भी इस बात का समर्थन करती है कि श्री कृष्ण रूपी ईश्वर को शूद्र, स्त्री तथा वैश्य भी अपनी भक्ति से प्राप्त कर सकते हैं। सन् 1963 में लिखे अपने लेख'राष्ट्रीय संकट और साहित्यकार' में वे स्पष्टत: अपने वैष्णव धर्मा होने की भी धज्जियां उड़ाते हुए प्रतीत होते हैं।

वे स्पष्ट घोषणा सी करते हैं, ''जनसाधारण को हर प्रकार से प्रबुद्ध करना मेरा दायित्व है। चेता हुआ राष्ट्र किसी विपरीत परिस्थिति या शत्रु को जीत सकता है। धर्म का मिथ्याडम्बर नष्ट करके घट-घट व्यापी राम के दर्शन करना और कराना साहित्यिक का धर्म है, दायित्व है। भारत का सनातन मानव धर्म ही विश्व का भावी धर्म है।''[8]

वास्तव में नागर जी धर्म के बाह्याडम्बर के विरुद्ध हैं। वे कर्मकाण्ड तथा जातिगत असमानता में विश्वास नहीं करते तथा साथ ही उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं होनी चाहिए। किंतु वे इस व्यवस्था को गलत नहीं मानते तथा पूरे संसार को 'राममय' देखने के इच्छुक भी हैं। वे सम्पूर्ण विश्व में भारतीय सनातन धर्म की पताका देखने के इच्छुक भी हैं।''

वे साहित्यकारों के दायित्वों में राम के दर्शन करने-कराने को प्रमुख मानते हैं। परन्तु हिन्दू धर्म [सनातन-धर्म] के आधार [जाति व्यवस्था] को ही हटा दिया जाए तो क्या हिन्दू धर्म की कोई और पहचान रहती है? क्या यह 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'' अर्थात तर्क से समझ नहीं मिलती का मामला नहीं है? वास्तव में नागर जी के इस आग्रह - आस्था के पीछे उनके वही पारिवारिक सामाजिक संस्कार परिलक्षित हैं जिनमें वे पले-बढ़े हैं। वे अवचेतन में सक्रिय रहते हैं तथा अपने वर्ग के हितों के प्रति सचेत भी। कदाचित इसलिए सभी ऐतिहासिक साक्ष्यों के विरुद्ध और अरुचियों के बावजूद वे उस वर्ग के लोगों के प्रति प्रेम, राग सम्बद्धता तथा एकरूपता के दर्शन करते हैं। अत: नागर जी एक समाज-सुधारक साहित्यकार तो थे किंतु उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के भीतर कहीं एक चैतन्य सनातनी ब्राह्मण भी विराजमान था।

इस संदर्भ में हम यदि प्रेमचंद जी को देखें तो पाते हैं कि वे उत्तरोत्तर अपने संस्कारों में परिष्कार लाते हुए अपनी पुरानी केंचुल से बाहर आ जाते हैं। उन्होंने

लाहौर के आर्य भाषा सम्मेलन में साहित्य के विद्रोही होने को भी स्वीकारा था, ''साहित्य राजनीति के पीछे चलाने वाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाला 'एडवांस गार्ड ' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरुचि से होता है।''[9]

अमृतलाल नागर ने सर्वप्रथम 1929 में एक तुकबंदी के रूप में कविता लिखी थी। वे इस वर्ष लखनऊ में साइमन कमीशन के आने के विरोध में निकाले गए एक जुलूस में शामिल थें पुलिस ने निर्दोष, निहत्थी जनता को रुई तरह धुन दिया। इसी अत्याचार से विह्वल होकर यह कविता फूटी थी, जो लखनऊ से प्रकाशित 'आनन्द ' में छपी थी। वे लिखते हैं, '' मेरे पैर कभी धरती पर जमते और कभी उखड़ जाते। एक रेला आकर कभी सहसा दाएं से बाएं घुमा देता, कभी आगे ढकेल देता, कभी पीछे फेंक देता था। पैर बुरी तरह छुंद गए, हड्डी-हड्डी चुरमुरा गयी। एक तो उस समय मेरी आयु [19 वर्ष] छोटी थी, दूसरे इतने, प्रचण्ड, प्रलंयकर जुलूस में सम्मिलित होने का मेरा वह पहला अवसर था। .....मेरी पहली तुकबंदी भी इसी दिन फूटी।''[10]

1947 में उनका पहला उपन्यास 'महाकाल ' भारती भंडार, लीडर प्रेस से प्रकाशित हुआ । तत्पश्चात उनके अनेक उपन्यासों ' बूंद और समुद्र ' [1956], गदर के फूल [1957], शतरंज के मोहरे [1959], ये कोठे वालियां [1959], सेठ बांकेमल, अमृत और विष [1966], सुहाग के नूपुर, सात घूंघट वाला मुखड़ा [1963], एकदा नैमिषारण्ये [1972], मानस का हंस [1973], खंजन नयन, नाच्यो बहुत गोपाल [1978], अग्निगर्भा, करवट और पीढ़ियां आदि प्रकाशित हुए।

नागर जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी सर्जक थे। डा. सुदेश बत्रा के मतानुसार, ''वे प्रतिभा के शुभ्र पुरुष थे।''[11] नागर जी ने कविता के क्षेत्र [अपनी पहली तुकबंदी] को छोड़कर साहित्य की लगभग प्रत्येक प्रचलित विधा में सशक्त हस्तक्षेप किया है। शरद चन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा दिया गया गुरु मंत्र उनका जीवन मंत्र था।'' 'जो अनुभव करो वही लिखो' इसको उन्होंने आजीवन निर्वाह करने का प्रयत्न किया। यह अलग बात है कि उस सत्य को, उस अनुभव को वे कितनी उत्कटता से प्रकट कर पाए। अनुभव और सत्य भी जीवन संस्कारों से ऊष्मा पाते हैं। वैचारिक प्रतिबद्धता के अभाव अथवा अल्पोपलब्धता में अनुभव और सत्य भोथरे हो जाते हैं। वह एक तरह का आडम्बर [हिप्पोक्रेसी] हो जाता है। नागर

जी गृहस्थ थे, मुहल्लेदार थे, इसलिए वे अपनी सीमा भी स्वीकारते हैं। क्या उन्होंने लेखकीय ईमानदारी का परिचय अपनी कृतियों में दिया है? डा. सुदेश बत्रा के मतानुसार, '' जिस किसी विधा पर भी लेखनी चलाई, वह पूरी तरह दीप्त भले ही न हुई हो, किंतु उसकी रोशनी में उनका परिवेश अवश्य उजागर हो गया है। युग चेतना को शब्दों के चौखटे में जड़कर प्रेमचन्द ने भी प्रस्तुत किया था किंतु नागर ने उस चौखटे के आस-पास एक ऐसी दुनिया की छवि भी उभारी है जो रंगीन भी है, कटु भी है, सीधी और सरल भी है तो यथार्थ भी है। .... नतीजा यह कि नागर के औपन्यासिक सृजन में जिन्दगी के बहुत से रंग उनकी कल्पना के 'ब्रंश 'की वार्निश से चमक उठे हैं।''[12]

संभवतः यही नागर जी की सीमा है कि वे उन उपन्यासों तथा उन प्रसंगों में खुलकर सामने नहीं आ पाए, जहां उनके वैचारिक नजरिये का खुलासा होता है। वे वहां भूमिगत हो जाते हैं, जिससे प्रसंग की मार्मिकता खत्म हो जाती है। नाच्यौ बहुत गोपाल और अग्निगर्भा उनके ऐसे ही उपन्यास हैं। क्या ' नाच्यौ बहुत गोपाल ' में मेहतरों की जिन्दगी, रीति-रिवाजों, मान्यताओं का प्रामाणिक चित्रण करने में वे सफल रहे? क्या अग्निगर्भा की सीता की प्रगतिशीतता सही मायनों में उभर पाई? संभवतः नागर जी की प्रगतिशीलता की भी यही सीमा है।

उन्होंने 1955 में अपने लेख '' कलाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि '' में लिखा था, ''कलाकार अपने युग के साथ अवतरित होता है और उस युग के लिए उसकी हस्ती न्यौछावर होती है। यह बात दूसरी है कि उिसकी कला-सिद्धि के कारण मानव समाज युग-युग तक उसकी न्यौछावर पर बलिहार होकर अपना विकास करते हुए कलाकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहे।'' [13] जबकि प्रेमचंद साहित्यकार को 'एडवांस-गार्ड ' मानते हैं। साहित्यकार युगीन समस्याओं और परिवेश में जीते हुए भी युग-सीमा को लांघ जाता है। वह अपने परिवेश का मार्गदर्शन तथा उसको प्रभावित भी करता है। ऐसे ही साहित्यकार युग-सीमा और देश सीमा को लांघकर विश्व की धरोहर बन जाते हैं।

नागर जी अपनी कृतियों में बहुत लुक-छिपकर आते हैं। वे किसी भी प्रश्न पर दो-टूक राय नहीं देते। वे जाति-व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं, किंतु वर्ण-व्यवस्था में कोई दोष नहीं देखते । वे आडम्बरों के विरुद्ध खड़े होते हैं किंतु धर्म को आवश्यक मानते हैं और धर्म भी केवल भारत का सनातन मानव धर्म। साथ ही वे सम्पूर्ण विश्व को घट-घट व्यापी 'रामजी ' में निमग्न देखते हें।

''रामराज्य का वह स्वप्नद्वीप जिसे भारत ने चौदह वर्षों के कठिन तप से संजोया था, एक बार फिर आलोकित करने के लिए रामजी आएंगे। इतिहास की अयोध्या में एक बार फिर मंगल मनेगा। राम करे ऐसा ही हो।''[14]

सेक्स [काम] के प्रश्न पर भी वे दुविधा ग्रस्त ही हैं, हालांकि इस बात की पूरी पैरवी करते हैं कि काम जाति, धर्म, आयु नहीं देखता। किंतु यह तो बहुत सतही बात है। वस्तुतः नागर जी का व्यक्तित्व दो भागों में विभक्त है। एक ओर सैद्धांतिक जीवन और दूसरी ओर व्यवहारिक जीवन और बीच में गहरी खाई। दलित साहित्यकारों का मानना है कि यह प्रवृति हिन्दी साहित्य के अधिकांश सवर्ण साहित्यकारों की है। वे कथनी और करनी में एक गहरा और विस्तृत वैषम्य रखते हैं। नागर जी को भी वे इसका अपवाद नहीं मानते।

नागर जी लगभग सभी खेमों में समादरणीय रहे। तब क्या नागर जी के व्यवहार और सिद्धांत में कोई संतुलन था? तब क्या उनकी कोई वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं थी? अथवा समयानुसार वे अपनी विचारधारा परिवर्तित करते रहे थे। प्रत्येक साहित्यकार अपनी विचारधारा में उत्तरोत्तर प्रखरता लाता है किंतु वे अपने प्रगतिशील उपन्यासों में चुकते हुए से क्यों दिखाई देते हैं? नागर अपने अन्य ऐतिहासिक तथा सवर्ण सामाजिक जीवन वाले उपन्यासों में पूर्णतः सफल दिखाई देते हैं। सुहाग के नूपुर, मानस का हंस, खंजन-नयन, बूंद और समुद्र आदि इसके उदाहरण हैं। आलोचक मधुरेश का भी यही प्रश्न है, '' साहित्य और कला, भाषा और संस्कृति इन सबको लेकर उनका अपना सुनिश्चित अभिमत था। इस सबकी चर्चा यथा प्रसंग हुई भी है। अवसर आने पर उन्होंने टूट जाने लेकिन न झुकने वाली वैचारिक दृढ़ता का परिचय दिया है। लेकिन फिर भी वे रामविलास शर्मा के भी प्रिय लेखक हैं और अज्ञेय के भी । आखिर इसका रहस्य क्या है?''[15]

संभवतः मुद्राराक्षस जी ने इसी रहस्य की ओर इंगित करते हुए हंस में लिखा है कि वे सभी मूलतः ब्राह्मण ही हैं। वहां उनके न्यस्त स्वार्थ हैं। शर्माजी 'वेदमुग्ध' कम्युनिस्ट हैं तथा अज्ञेय जी तमाम प्रगतिशीलता के साथ 'रामरथ' के अनुक्रम में 'जानकी यात्रा' के संचालक हैं। इस यात्रा में नागर जी भी सहभागी थे तथा रामविलास जी तो उनके भातृवत मित्र भी थे। वे कहीं भी धर्म और राजनीति की तीखी आलोचना नहीं करते, बल्कि कहीं-कहीं तो वे प्रश्रय भी देते नजर आते हैं। ''नाच्यौ बहुत गोपाल उपन्यास में 'इमरजेंसी' के संबंध में उनकी टिप्पणी तत्कालीन राजनीति तथा राजनीतिज्ञों को खुश करने वाली ही लगती

है। इसके अतिरिक्त धर्म परिवर्तन के विरोध में वे बहुत कटु शब्दावली का प्रयोग करते हैं।''[16]

मधुरेश भी सविनय स्वीकारते हैं कि, ''प्रेमचंद की तरह राहुल और यशपाल धर्म की तीखी आलोचना करते हैं धर्म-ध्वजियों को चिढ़ाने की सीमा तक जाकर। नागर जी कहीं ऐसा नहीं करते। जब भी अवसर आता है, वे अपनी शैव-आस्था का निस्संकोच उल्लेख करते हैं। प्रगतिवादी रचना-मूल्यों की स्वीकृति के बावजूद वे अपने नायको की वैसी कम्युनिस्ट परिणति से बचते हैं तो राहुल और यशपाल के यहां बहुत कुछ एक रूढ़ सांचे की शक्ल लेती दिखाई देती है। उनके 'बूंद और समुद्र ' में वनकन्या कम्यूनिस्ट आन्दोलन और विचारध ारा से जुड़ी है। लेकिन वह भी अपनी धार्मिक आस्था के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान बनी रहकर ही स्त्री के प्रति सज्जन के सामन्ती और भोगवादी संस्कारों को बदलने में सफल होती है। अपनी प्रकृति से नागर जी विवाद और विरोध के बजाय सहमति और सामंजस्य पर बल देने वाले लेखक हैं। वे विरोधी चीजों में से अपने काम का अंश लेकर शेष बहुत कुछ छोड़ देते हैं।''[17]

वस्तुत: राजनीति में उनके आदर्श गांधी और नेहरू रहे और धर्म में 'रामजी' तथा साहित्य में गुसाई बाबा। यही वैचारिकता उनके साहित्य में पुष्पित-पल्लवित हुई है। दलित समस्या पर भी बाबा साहेब अम्बेडकर का उल्लेख वे कहीं करते दिखाई नहीं देते, वहां भी वे गांधी के अनुगामी हैं। जैसा कि हमें पिछले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि दलित साहित्य का प्रस्थान-बिंदु अम्बेडकरी दर्शन है। किंतु क्या दलित साहित्य में अपनी उदार प्रवृति और गांधीवादी आस्था के कारण नागर जी को 'दलितों' के लिए लेखन [Litreture for dalit] की श्रेणी में रखा जा सकता है? आगे हम संवेदना और शिल्प उपशीर्षक में इसकी चर्चा करेंगे।

उपन्यास : संवेदना और शिल्प

'नाच्यौ बहुत गोपाल ' उपन्यास नागर जी के श्रमसाध्य समाजशास्त्रीय सर्वेक्षणों तथा कामशक्ति की प्रचण्डता के ताने-बाने से बना एक द्विवर्णी चित्रपट है। साथ ही आधुनिक संदर्भो में यह विवादास्पद उपन्यास भी है। सन् 1977 में सम्पूर्ण उपन्यास में एक बहुत विस्तृत कालखण्ड को चतुरता से समेटा गया है। निस्संदेह नागर जी अपनी इस कला में निपुण हैं। उनके अनेक अन्य उपन्यास इस बात के साक्षी हैं। उपन्यास की कथा दो भागों में चलती है, स्वतंत्रता पूर्व लगभग

1930 का समय तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात सन् 1977 का समय । उपन्यास नायिका-प्रधान है, अत: पूरा उपन्यास नायिका के इर्द-गिर्द ही बुना गया है तथा उसीके व्यवहार-चेष्टाओं से गति और विकास पाता है। अन्य पात्रों की स्थिति सहयोगी होने में दिखाई देती है।

इस उपन्यास में फ्लैश बैक पद्धति का प्रयोग किया गया है। प्रधान पात्र निर्गुण देवी एक जन्मजात तथा संस्कारहीन ब्राह्मणी है जो अपनी अतृप्त काम वासना के वशीभूत हो अपने केशौर्य से ही अपने लिए शिकार ढूंढ़ती रहती है। वृद्ध ब्राह्मण मसुरियादीन की नव-परिणिता बनने के बाद उसकी काम-पिपासा और बलवती हो जाती है। इस उद्देश्य के लिए वह अपने घर में शौच-सफाई के लिए आए दलित युवक मोहना को प्रलोभन देती है किंतु उसके प्रलोभन में न फंसने पर वह और कुंठित हो जाती है। अत: दूसरे तीसरे दिन ही वह 19-20 वर्ष के स्वस्थ कटीले-सलोने दलित युवक के सम्मुख निर्वस्त्र खड़ी हो जाती है।[18] युवक असमंजस में था और संस्कारी और चतुर ब्राह्मणी निर्गुण अपने से कम उम्र युवक की इस असमंजसता का भरपूर उपभोग करती है। चलते समय वह अपने उपयोगित खिलौने [दलित युवक] को सौ रुपये का नोट भी देती है ताकि यह सिलसिला बदस्तूर चलता रहे।

उपन्यास में अनेक घटनाक्रम तथा घात प्रतिघात हैं। घटनाक्रम तथा पात्रों की चेष्टाओं के चित्रण में नागर जी बहुत कुशल हैं। नागर जी का बात कहने का ढंग कुछ इस तरह का निराला है कि पाठक उनके इसी ढंग में बह जाता है। किंतु इस उपक्रम में मूल वक्तव्य वहीं रह जाता है। नागर जी किस्सा कहने की इस कला के बेजोड़ सर्जक हैं। उपन्यास का अन्त निर्गुण के देहान्त के साथ ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण उपन्यास के आरंभ से दृष्टिगोचर होकर अंत तक उपस्थित रहती है। इस उपन्यास कथा के केन्द्र में वही है और उसके केन्द्र में उसकी अदम्य, अतृप्त काम वासना है।'' आदमी का आदमी होना ही उस नरभूखी निर्गुण की छाती में डंक मारता था।[19]

सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि इस उपन्यास रचना का प्राथमिक अथवा प्रमुख उद्देश्य क्या है ? क्या यह उपन्यास दलित वर्ग की टूटन पीड़ा, संताप तथा आक्रोश को शब्दबद्ध करना चाहता है ? अथवा वह उस सार्वभौमिक सत्य की प्रतिष्ठापना करना चाहता है जिसे एक युग पहले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड ने अपने सम्पूर्ण लेखन का बिंदु बनाया था अर्थात कामशक्ति [लिबिडो]।

इस उपन्यास के लेखन के लिए उन्हें प्रेरणा-बीज किस रूप में प्राप्त हुआ ? इस बीज की प्राप्ति तथा उसके वपन और विकसन में कौन सा कारण प्रधान था?

मानस का हंस की रचना के तुरंत बाद वें साक्षात्कार में स्पष्ट करते हैं, "गोमती के किनारे मैंने एक फ्लैट लिया हुआ है। यही मेरी लेखनशाला है। वहां एक दिन हमारी जमादारिन नहीं आई । उसके एवज पर कोई दूसरी काम करने आई थी। उससे पता चला कि हमारी जमादारिन पकड़ी गई है। अनाजमंडी के एक बूढ़े ब्राह्मण की जवान पत्नी उसके लड़के को भगा ले गई। वे दो-तीन होटल में रहे, पर बाद में पकड़े गए क्योंकि वह जेवर भी साथ ले गई थी। यह सुनकर उस समय दिमाग में अचानक एक समस्या कौंध गई कि सेक्स का आकर्षण न ब्राह्मण देखता है और न मेहतर, वह स्त्री और पुरुष को ही देखता है। बस यहां से बीज अंकुरित हुआ और फिर मेहतरों से **इंटर-व्यूज** का लम्बा सिलसिला चल पड़ा। जब तक उनके जीवन की बोलचाल की, रंग-ढंग, रीति-रिवाज की पूरी जानकारी न हो जाए तब तक मजा नहीं आता। इस तरह करते-करते अनेक किस्से कहानियां निकल आईं। वह हमारे लिए सामग्री हो गई, यानी लेखन के लिए कुछ तो खाद आ गई और कुछ तैयार पौधे भी आ गए। सतही तौर पर यह कह सकते हैं कि यह उपन्यास मेहतरों की समस्या पर है। पर वस्तुतः समस्या तो दासता और दमन की है।" [20]

इस प्रकार नागर जी स्वयं इसे प्रमुख रूप से काम की समस्या का प्रतिफलन मानते हैं। सतही तौर पर वे इसे दलितों पर लेखन कहते अवश्य हैं, परंतु वास्तव में वे इसे प्रगतिशील ढंग से दासता और दमन की कथा कहते हैं। **नाच्यौ बहुत गोपाल** उपन्यास में भी प्रमुख समस्या का ही प्रमुख रूप से चित्रांकन किया गया है और वहीं नागर जी सफल भी हुए हैं ।

काम मानव की नैसर्गिक आवश्यकता है। इसका जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन तथा उसके विकास क्रम में हुई उठा-पटक में काम ने अद्वितीय भूमिका निभाई है। काम के दो रूप हैं, एक प्रेमाधारित काम और दूसरा प्रेमरहित काम। अतः जहां पहला अपनी परिणति में सम्भोग कहलाता है, वहीं दूसरा बलात्कार। **नाच्यौ बहुत गोपाल** उपन्यास में निर्गुण दलित मोहना के साथ आदि से अंत तक बलात्कार करती है, जबकि मोहना सम्भोग। डा. विजय मोहन सिंह के मतानुसार साधारणतः जिसे प्रेम कहा जाता है उसका यौन प्रवृत्ति से गहन संबंध रहा है। आत्मरक्षण के लिए जिस प्रकार मनुष्य पशुओं की भोजन प्रकिया

से पृथक होता गया, ठीक उसी के समानांतर यौन प्रवृत्ति के संदर्भ में उसने जटिल, संस्कारपूर्ण मानसिकता भी उपलब्ध की। प्रेम इसी प्रवृत्ति के अपेक्षाकृत संस्कारपूर्ण रूप का विकास है।''[21]

प्रेम तथा काम में एक सूक्ष्म अंतर है जो वस्तुतः इसके प्रयोजन में निहित है। प्रेम का प्रयोजन आत्मविसर्जन है और प्रेम के साथ काम-संबंध उसमें गौण होते हैं, जबकि काम का संबंध काया के उपभोग पर केन्द्रित होता है। वह अपने साथी को कुचलने-मसलने का उपक्रम होता है। वहां एक पक्षीय आनन्दोपलब्धि ही अभीप्सित होती है। सृष्टि की रचना का आधार स्तंभ कामशक्ति ही है किंतु वही जो प्रेम आधारित हो संभवतः इसलिए भारतीय मनीषियों ने काम को पुरुषार्थ के तृतीय स्थान पर रखकर धार्मिक परिधि में बांध दिया था।'' प्रेम में जहां कोमलता तथा एक दूसरे की सुरक्षा प्रधान होती है, वहीं यौन-भावना में एक दूसरे को पराजित करने या नष्ट करने की आकांक्षा भी निहित हो सकती है।''[22]

इस विवेचन के आलोक में यदि हम उपन्यास के प्रमुख पात्रों की स्थिति का अवलोकन करें तो पाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ बलात्कार कर रहा है। मास्टर [बाद में दरोगा] बसंतलाल, रायसाहब बटुक परसाद, छोटे बबुआ, खड्गबहादुर, मसुरिया दीन, माशूक उर्फ डेविड और सबसे अधिक प्रमुख पात्र निर्गुनियां स्वयं। इन सभी के आपसी संबंधों में प्रेम का स्वर कहीं भी हो, ऐसा कहीं नहीं दिखाई देता। वे सभी एक दूसरे को मसल-कुचल देना चाहते हैं अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए किसी भी सीमा तक जाने की होड़ सी दिखाई देती है। बूढ़ी ब्राह्मणी अम्मा और पंडित रायबहादुर बटुक प्रसाद का महल घर नहीं वेश्यालय ही प्रतीत होता है। किशोरी निर्गुण वहां के वातावरण में शनैः शनैः पारंगत होती जाती है और छोटे बबुआ को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल रहती है जिससे उसे गर्भ भी रह जाता है। पहाड़ी नौकर खड्गबहादुर अम्मा की ठंडी बूढ़ी देह से ऊबकर निर्गुण की युवा देह को भी जबर्दस्ती प्राप्त कर लेता है। अम्मा का एक पुराना यार मसुरियादीन है जो कालांतर में निर्गुण का पति बनता है। निर्गुण का पिता भी अम्मा का पिठ्ठू है। मास्टर बसंतलाल को लुभाने-ललचाने में भी निर्गुण पूरे हथकण्डे अपनाती है। उसका अंतिम शिकार दलित युवक मोहना बनता है। तत्पश्चात वह मां बन जाती है और जीते जी मोहना का डर उसे पथभ्रष्ट नहीं होने देता।

मोहना से साल डेढ़ साल वियोग में ही वह एण्डरसन से अपनी वासना

बुझाने की भी सोचती है, पर वह भयभीत है कि कहीं मोहना मसुरियादीन की तरह एण्डरसन की भी हत्या न कर दे। मोहना से उसे दो बच्चे होते हैं, बेटी शकुंतला और बेटा निर्गुण मोहन। बेटी को वे एण्डरसन को सौंप देती है तथा बेटे को स्वयं पालती है। अंत में पत्रकार अंशुधर शर्मा को अपने जीवन-वृत्तांत सुनाकर वह आत्महत्या कर लेती है।

नागर जी के उपन्यास लेखन के प्रमुख उद्देश्य के बारे में डा. पुष्पा बंसल भी मानती हैं, ''निर्गुण का चरित्र गंभीर मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा रखता है। एक ब्राह्मणी नारी को एक मेहतर को स्वीकारना, केवल स्वीकार ही नहीं, उसके समस्त परिवेश, उसके सगे संबंधियों एवं उसके जातिगत वैशिष्टियों को स्वीकार कर लेना एक ऐसी मनोवैज्ञानिक जटिलता है कि इस स्थिति को यदि नागर जी जैसे कुशल औपन्यासिक की प्रतिभा ने हैन्डल न किया होता तो यह पात्र अपने आप में नितान्त दुर्बल एवं अस्वाभाविक बन जाता, निर्गुण के लिए मोहना का स्वीकार एक विवशता थी। मोहना का आवाह्न उसने पत्नीत्व प्राप्ति के लिए नहीं केवल कामसुख प्राप्ति के लिए किया था और अपनी गांठ के पैसे से वह उसे उसकी जाति, घर, पेशा, संबंधों सब से छुड़ाकर अलग करके रख लेना चाहती थी।''[23]

वास्तव में यह एक पूर्णसत्य है। निर्गुण ने दलित मोहना की पत्नी बनना न चाहा था। उस नरभूखी की छाती में तो दलित मोहना का रूप लावण्य डंक मार गया था। वह पुरानी खिलाड़िन थी। वह जानती थी कि गरीब अछूत लोग खाने और सम्मान के भूखे होते हैं। हर तरफ से मिली दुत्कार उनके हृदय में सहानुभूति की आकांक्षा भर देती है। इसी योजना के तहत पहले वह दलित मोहना को जबरदस्ती भोजन के लिए आमंत्रित करती है और चलते समय उसे रुपये भी देती है। नागर जी लिखते हैं, '' पानी डालने गई। कड़ियल जवान देखा, बड़ी-बड़ी आंखें, गेहुंआ रंग, नाक और मुंह पर कपड़ा लिपटा हुआ। पाखाना धोकर भीतर आ जाना। तुम्हारी मां को रोज खाना देती हूं, तुम्हें भी दूंगी।

युवक धुलाई करके बाहर जाने लगा। निर्गुण ने उतावली में आवाज दी, ''सुनो। लड़का रुका- आंखों में बड़ा भारी प्रश्न। निर्गुण ने आग्रह भरी प्यासी आंखों से उसकी ओर देखा, कहा- खाना खाकर जाना। अब खाना तो, बहू जी।''[24]

आगे वे लिखते हैं,

"लो ये रख लो

यह क्या? रुपये किसलिए?

अरे रबड़ी-मलाई खाना, पान-सिगरेट पीना ये लो" [25]

निर्गुण का यह मोहन-दोहन का सिलसिला यूं ही चोरी छिपे चलता रहता पर मोहना की वापसी उसे विचलित कर देती है। एक समय तक दबी कामवासना अपनी प्रचण्डता पर थी और वह अपने खिलौने को खोना नहीं चाहती थी। वह तड़प उठी। " मोहन आया लेकिन यह खबर भी लाया कि अब उसकी फुफ्फी यानी मां आ गई है और वह परसों अपने घर यानी मामा-भाई के यहां चला जाएगा। सुनते ही निर्गुण उससे लिपटकर ऐसी हिचकियां बांधकर रोई कि मोहना भी रो पड़ा।"[26]

उसकी यही विवशता, यही भय उसे घर से भागने पर और ब्राह्मणी से दलित बनने पर मजबूर कर देता है। नागर जी ने इस प्रसंग में अद्‌भुत कुशलता से काम लिया है। गोया वे नारी मन की इस व्यथा के बड़े जानकार थे । ये कोठेवालियां, सुहाग के नूपुर के उपन्यासों में भी उनके इस कौशल का परिचय मिलता है। नागर जी प्रेम भावना के बड़े चितेरे हैं। प्रेमी प्रेमिका संलाप हो या पति-पत्नी वार्तालाप, उनकी रससिद्धता का प्रमाण मिल ही जाता है। संवादों में इतनी जीवंतता होती है कि मानो प्रेमी-युगल सामने बैठे बतकही कर रहे हों।

नागर जी की मनमोहक तथा सम्मोहन कला से पाठक अभिभूत हो जाता है। वे बहुत ही सरल और सपाट भाषा में पाठकों को एक ऐसे संसार में लिए चलते हैं जहां वह कहानी-पढ़ना-सुनना नहीं बल्कि जीना आरंभ कर देता है। वह उस पूरे परिवेश में घुल जाता है। यह साहित्यकार नागर की उपलब्धि है। यह उपलब्धि बहुत कुछ उनके शिल्प और संवेदना की प्रामाणिकता के कारण है। **काम** की अनुभूति प्रत्येक मनुष्य को होती है उसके परिमाण में अंतर भले हो। नागर जी के अनुभव से बाहर यह विषय नहीं था और यही कारण है कि वे इस अर्थ में पूर्ण सफल रहे हैं। डा. हेमराज कौशिक लिखते हैं, नागर जी शहरी मध्यवर्ग के स्वीकृत उपन्यासकार हैं। किंतु उनका **नाच्यौ बहुत गोपाल** लीक से कुछ भिन्न औपन्यासिक कृति है। इसमें नागर जी ने नगरों में रहने वाले मेहतर समाज की भाग्यगाथा को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार का

उद्देश्य जहां एक ओर मेहतर समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत करना है, यहां निर्गुनिया के चरित्र के माध्यम से काम एवं प्रेम में द्वन्द्व प्रस्तुत करते हुए काम के उदातीकरण का चित्र प्रस्तुत करना भी है''[27]

कौशिक जी इसे लीक से कुछ भिन्न कृति मानते हैं और कदाचित लीक से भिन्नता दलित वर्ग के चित्रण और प्रस्तुतिकरण के कारण ही है। साथ ही वे उपन्यास के उद्देश्य एवं समस्या के वरीयता क्रम में भी परिवर्तन कर देते हैं। उनकी दृष्टि में हरिजनोद्धार पहला उद्देश्य है और **काम** का उदातीकरण दूसरा। किंतु नागर जी ने स्वयं इसका खण्डन किया है और उन्होंने स्वीकार भी किया कि काम की भावना कुछ नहीं देखती और यही बीजसूत्र था जिससे उनके मन में उपन्यास लेखन का सूत्रपात हुआ।

एक अन्य स्थान पर ब्राह्मणी निर्गुण की काम वासना के औचित्य और नागर जी के उद्देश्य को और उदात्त बनाते हुए लिखते हैं, '' अपनी इस शारीरिक क्षुधा में अथवा देह-सुख की तलाश में यदि निर्गुनिया ब्राह्मणी से मेहतरानी बन जाती है तो उसे एक ब्राह्मणी स्त्री की भटकन के रूप में नहीं आंका जाना चाहिए। निर्गुनिया यदि ब्राह्मणी न भी होती, तब भी उसका यही संघर्ष और यही निर्णय होता, जो इस उपन्यास में चित्रित है। वास्तव में इसे नारी जाति सम्बन्ध करके देखना चाहिए। नारी जाति की कितनी आर्थिक परतंत्रता व असुरक्षा की स्थिति है।'' [28]

यह मत औचित्यपूर्ण है कि नागर जी की ब्राह्मणी पात्र निर्गुण वास्तव में उस पूरी नारी जाति की प्रतिनिधि है जो सदियों से शोषित है, मर्दित है। अपनी नैसर्गिक भूख को पूरा करने का उसका नैसर्गिक अधिकार है। यह कामक्षुधा तो बालक के जन्म के साथ ही प्रारंभ हो जाती है परन्तु तब इसके रूप अलग होते हैं। फ्रायडियन सिद्धांत के अनुसार बालक में पहले अपने देह के प्रति, फिर समलिंगी के प्रति और विषमलिंगी के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। फ्रायड भी अपनी देह से आसक्ति को खतरनाक मानते हैं । इस अर्थ में निर्गुण का अम्मा के महल में समय से पूर्व व्यभिचार करना भी अनुचित नहीं है। विवाहोपरांत पति के अक्षम होने की स्थिति में तो यह पूर्णत: जायज है। किंतु नागर जी भारतीय संस्कृति के मूल्यों तथा आस्था के सजग प्रहरी हैं, वे निर्गुण के इस तमाम व्यभिचार को कैसे महिमा मण्डित कर सके ? यह चित्रण तथाकथित भारतीय संस्कृति के अनुकूल जान नहीं पड़ता। अत: हम निस्संकोच कह सकते हैं कि

इस अर्थ में नागर जी की यह प्रगतिशीलता ही है जो वे इनता साहस कर गए।

किंतु संवेदना का एक पक्ष यह भी है कि क्या निर्गुण के जन्मना दलित [चमारिन, भंगिन, खटीकिन] होने पर भी यह पूरी नारी जाति की भटकन रहती? वह लिखते हैं, "वह मोहना के साथ काया-सुख के लिए भाग कर आई थी किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि केवल जीवन भर काया-सुख ही उसका उद्देश्य रहा। देह-सुख के अतिरिक्त समय के साथ-साथ उसका मोहना से अधि काधिक प्रेम एकनिष्ठ एवं प्रगाढ़ होता गया।" [29]

इस उपन्यास के पूर्व एवं गहन चिंतन-मनन के पश्चात कौशिक जी का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। स्वयं नागर जी ने अनेक स्थलों पर उसका खण्डन किया है। इसके विपरीत यह सत्य सर्वथा प्रतिपादित किया जा सकता है कि आरंभ से अन्त तक दलित मोहना उससे प्रेम करता है और उसकी रक्षा करता है। निर्गुणिया पर कुदृष्टि रखने के कारण दारोगा बसन्त लाल की खूब मिट्टी पलीद करता है दलित मोहना। फिर वह मसुरियादीन के घर डाका डालकर उसकी भी हत्या कर देता है क्योंकि वह निर्गुण को कलक्टर के सामने पेश करवाकर बेइज्जत करता है। निर्गुण के **कमाने** के काम पर वह खुश तो होता है, पर वह उसे काम करने को मना करता है। इस उद्देश्य के लिए वह निर्गुण को स्कूल खोलने में आर्थिक सहायता देता है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह अपनी ही जाति में साधिकार विवाह कर सकता था किंतु वह ऐसा नहीं करता बल्कि निर्गुण को ही सर्वस्व मान लेता है। किंतु निर्गुण अंत तक उसे उसके वास्तविक स्वरूप के साथ स्वीकार नहीं कर पाती। डाकू बनने के बाद मोहना सिंह निर्गुण से एक-डेढ़ वर्ष नहीं मिल पाता तो वह फादर एण्डरसन के प्रेम में डूब जाती है। उसकी काम लोलुपता जघन्य है।

"मुझे याद पड़ता है आपने शायद किसी संस्मरण में लिखा भी था कि डाक्टर एण्डरसन से आपका या उनका आपसे प्रेम हो गया था।

हां बाबू जी, आग पर चलते हुए वही एक बड़ा फफोला पड़ा था मुझे। एण्डरसन पादरी आदमी था बाबूजी। ऐसे फूल सी महक-भरा दिल वाला आदमी मैंने दूसरा नहीं देखा। ऐसा फूल जो हाथ में उठाओ तो मन में बस जाए, और मन में बसे तो इतना भारी लगे कि उसका बोझ संभाले न संभले।" [30]

आगे नागर जी कहते हैं, " मुझे एण्डरसन साहब के यहां शाम को अंगरेजी

पढ़ने के बहाने जाने की चाह लग गई थी। ..... मन का पाप बेहोशी का नशा बनकर मुझ पर छाने लगा। आज मैं आपसे अपने दिल की सच्ची बात कहती हूं बाबू जी कि एण्डरसन साहब उस बखत अगर मुझे हाथ पकड़कर अपने पास खींच लेते तो मैं बिल्कुल मना न कर पाती।''[31]

वास्तव में मदन दीवानी निर्गुण की प्रवृति ही दुराचारी है। वह एण्डरसन को भी रिझाती है। वह रोज पढ़ने का बहाना करके उनको उनके अकेलेपन का अहसास कराती है। इस भांति वह अपने अकेलेपन का भी इलाज करती है। एण्डरसन एक सदाचारी व्यक्ति है। वह ऐसी कोई हरकत नहीं करता। वह उनके साथ विवाह को तैयार नहीं होती, उनके हाथ पर हाथ रखकर उनकी कामवासना को बढ़ाती है और मौन निमंत्रण देती है।'' मैंने भी प्रेम के रस में सराबोर होकर उनके हाथ पर हाथ रखकर कहा कि 'इस फरिश्ते को परछाई ही नजर आई होगी। साहब ने अपना हाथ खींच लिया। ..... उनकी बात सुनते ही मेरे मन ने भी अपने कुचाली घोड़े की लगाम खींच ली।''[32]

निर्गुण एण्डरसन के साथ खुलकर खेलती परंतु उसके मन में मोहन का भय था। ''वह कसाई मेरे पीछे-पीछे सात समन्दर पार भी पहुंच सकता था। मुझे और मेरे साहब को मार भी सकता था।''[33]

निर्गुण को नित नए पुरुषों के शरीर का भोग करने का शौक था। वह चतुर थी और 'सती' भी बनी रहना चाहती थी। नया पुरुष मिलने पर वह पुराने के प्रति उदासीन हो जाती है।'' उसने बूढ़े आर्यपुत्र को मारा, पर उससे मुझे तनिक सा भी दुख नहीं हुआ, लेकिन अगर साहब को मारा तो मैं कहीं की न रहूंगी। हो सकता है कि उसे मारकर आप भी मर जाऊं। पर हाय! उस हरामी को भी मैं क्योंकर मार सकूंगी।''[34]

छोटे बबुआ के बाद बसंत लाल और उसके बाद मसुरियादीन, फिर मोहन और उसके अभाव में एण्डरसन को बदलती रहती है। वह मोहना की अनुपस्थिति में बसंतलाल के आग्रह पर भी कामोत्तेजित हो जाती है।'' दो घण्टे पहले बसंत लाल दरोगा की आग्रह भरी वासना ने उसके तन-मन की जिस सोई हुई भूख को उकसावा दे दिया था, वह अब इस अंधेरी कोठरी में खटोलिया पर पड़ी हुई निर्गुण को, सगुण बना रही है।''[35]

वह इस काम-पिपासा को दारोगा बसंतलाल के माध्यम से बुझाने को भी

तैयार हो जाती है। और वह गुड़ था बसंतलाल दारोगा उर्फ मास्टर जी। वही गुड़ और मिठास पाने का क्षण आया था और वह उसके लिए तैयार भी थी।''[36]

निर्गुण दलित मोहना से प्रेम कभी नहीं कर पाती। एण्डरसन इस आग में एक बड़ा फफोला था, पर मोहन छोटा फफोला भी नहीं था। अन्य छोटे फफोलों में छोटे बबुआ और मास्टर बसंतलाल थे। मोहन से छुटकारे के उपाय वह ढूंढ़ती रही किंतु ऐसा कोई अवसर वह पा न सकी। मोहन का स्वीकार वह केवल सुरापान की आत्यंतिक सीमा पर ही कर पाती थी। वह स्थिति जहां होश-बेहोश में कोई फर्क नहीं रहता। समय के साथ-साथ उसका चेतन मन उस नाम के साथ अधिकाधिक बंधता गया। पर वह मुरलीधर मोहन था, झाड़ू उठाए दलित मोहना नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागर जी अपने इस प्राथमिक उद्देश्य में पूर्ण सफल रहे हैं परंतु क्या अपने द्वितीय उद्देश्य में उनकी यही स्थिति बरकरार रह पाती है। अपने गौण उद्देश्य के लिए भी नागर जी ने बहुत मेहनत की है। वह महीनों इण्टरव्यू करते रहे। उन्होंने भंगी कालोनियों का जायजा-मुआयना किया। एक साक्षात्कार में जवाब देते हुए उन्होंने कहा, ''आजकल तो बस मैं मेहतर बन गया हूं। एक उपन्यास मेहतरों के जीवन को लेकर लिख रहा हूं। मुझे इनके जीवन से गहरी संवेदना हो गयी है। इनके साथ शोषण का एक लम्बा इतिहास जुड़ा लगता है। आपने सुना है न, वह मुहावरा -- मार-मार के भंगी बनाना।''[37]

वास्तव में नागर जी ने प्रकारांतर से दलित समाज की व्यथा को भी उकेरने का प्रयास किया है। नागर जी उपन्यास में गांधी की सुधारवादी तथा मानस परिवर्तन की विचारधारा की पैरवी करते नजर आते हैं। गायत्री लांबा के मतानुसार, ''मेहतर जाति का यथार्थतम चित्रण अपने सारे गलीच और कदिम के साथ उन्होंने कैमरे की आंख से किया है, शायद बहुत निर्मम होकर। परंतु यह कठोरता आलोचक की नहीं, एक संवेदनशील प्रचेता सुधी विद्वान की है जो हवाई जहाज में बैठने वाले नेता के विहंगम दृष्टा की तरह नहीं है वरन् उनके जीवन से एकाकार होते हुए अपने उच्च संस्कारों का दुशाला उतार कर उन्होंने उस कीचड़ में बिखरे हुए मोतियों की तरह संवेदनाएं बटोरी हैं।''[38]

नाच्यौ बहुत गोपाल उपन्यास में दूसरों की गंदगी साफ करके अपनी आजीविका कमाने वाले वर्ग की समाजशास्त्रीय ढंग से व्यथा-कथा लिखी गई है। भारतीय समाज में व्यक्ति का निर्धारण उसकी जाति के आधार पर होता रहा

है। प्रत्येक जाति का एक निश्चित कार्य होता था। उस जाति के सभी लोगों को वही काम करना पड़ता था। भारतीय धर्मशास्त्र इसका सख्ती से विधान करते रहे और समाज के सुखासीन धार्मिक ठेकेदारों ने इसके अनुपालन में कोई कोताही न बरती। स्वयं गांधी इस व्यवस्था के पोषक थे। गांधी कट्टर हिन्दू थे और गीता को बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ मानते थे। गीता वर्ण-व्यवस्था को बढ़ावा देती है। वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म हिन्दू धर्म की संसार को विशेष देन है। मैं उसका अभी तक समर्थक हूं। ''[39]

नागर जी भी गांधी के अभिमत से सहमत थे। वे सच्चे गांधीवादी थे। **नाच्यौ बहुत गोपाल** में मोहना और निर्गुण के माध्यम से भी वे धर्म न छोड़ने की बात दुहराते हैं। वे गीता के स्वधर्म के हीन होने पर भी परधर्म के भयावह होने को स्वीकार करते हैं। गांधी भारतीय राजनीति के शिखर पुरुष थे, वे चाहते तो समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ सकता था। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बंटवारे में उनकी भूमिका विचारणीय है। तत्पश्चात मुस्लिमों के भारत में रहने के मामले पर भी वे खुलकर बोले थे। परंतु क्या वे दलितों के लिए इस तरह खुलकर बोले ''मैं अपने आप को हरिजनों में गिनता हूं और मुझे उनमें अपने को भंगी कहना अच्छा लगता है क्योंकि वह हरिजनों की सबसे नीची जाति है। जब हाल में मैं दिल्ली में स्वीपरों की बस्ती में रहा तो परिजनो ने **भंगी** शब्द के इस्तेमाल पर एतराज किया। उन्होंने मेहतर शब्द सुझाया। ....भंगी शब्द का कोई भी स्रोत रहा हो, मेरी राय में भंगी शिवजी का दूसरा नाम है। चाहे आप स्वीपर को मेहतर कहें या भंगी, वह शिवजी की तरह आदमी को तन्दरुस्ती देता है।''[40]

नाच्यौ बहुत गोपाल उपन्यास में इसी समाज की कथा-उपकथाओं को, प्रचलित किवदन्तियों के साथ ब्राह्मणवादी समाज के बदबूदार, सड़ांध मारते परिवेश में बुनने का प्रयास किया गया है। परन्तु उपन्यास में गांधीवादी आस्था ही सर्वत्र विद्यमान है। ''शिवजी की पिण्डी के सिर और पैर नहीं होते माई। मेहतराइन और महाराजिन एक ही हैं। जिधर से जैसा चाहो मान लो। शिव जी सबसे बड़े भंगी हैं।''[41] विस्मय की बात है कि संवेदना के स्तर पर गांधी और नागर एक ही भाषा बोलते हैं। वे दलितों में श्रीराम के प्रति अनन्य भक्ति तथा रामचरित मानस के प्रति अनन्य श्रद्धा के दर्शन करते हैं।

यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि रामचरित मानस अपने वर्तमान स्वरूप के कारण दलित वर्ग द्वारा पहले ही खारिज की जा चुकी है। मराठी दलित

साहित्य में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। डा. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्मशास्त्रों की धज्जियां उड़ा दी थीं। परन्तु नागर जी का **नाच्यौ बहुत गोपाल** इसी मानस के उद्धरणों से पटा पड़ा है। उपन्यास के ब्राह्मण पात्र ही नहीं बल्कि दलित पात्र भी **रैमायन** के प्रति असीम श्रद्धालु दिखाये जाते हैं। दलित चेतना के वाहक दलित मोहना और उसका पुत्र निर्गुण मोहन भी इसके शिकार चित्रित किए गए हैं। ''उन्होंने बतलाया कि उनके बेटे को श्रीराम और राम चरित मानस के प्रति अगाध श्रद्धा है। यह तो आपस की कहा-सुनी और जवान खून के जोश में उसने गुसाई बाबा की जयन्ती का विरोध किया था।''[42]

परन्तु नागर जी ने संवेदना के इस पक्ष के साथ भी न्याय करने का भरसक प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने ही प्रतीक रूप अंशुधर शर्मा की मानसिक बेचैनी का भी वर्णन किया है। वे ब्राह्मणी निर्गुण के मन और उसके मेहतरानी बनने की प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक चित्रण में पूरे मनोयोग से जुटे हैं। वास्तव में यह उनकी पहुंच में था। यह ऐसा सत्य था जिसकी कल्पना करना भी एक ब्राह्मण के लिए त्रासदासक है। इस स्थिति में एक पात्र को उस नारकीय यंत्रणा से गुजारने में वे अपनी पूरी कल्पना शक्ति का प्रयोग कर सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी।

डा. हेमचंद कौशिक लिखते हैं, ''नागर जी ने **नाच्यौ बहुत गोपाल** में साहित्य तथा समाज शास्त्र का अनोखा समीकरण किया है। समाज शास्त्रियों के अध्ययन का प्रिय विषय भारतीय वर्ण व्यवस्था रहा है। इसे केन्द्र बनाकर उपन्यास सृजन का का कार्य हिन्दी साहित्य में केवल नागर जी ने ही किया है। उनका यह उपन्यास समाज के गर्हित कहे जाने वाले वर्ग मेहतर जाति और सवर्णों के इर्द-गिर्द बंधी हुई मोटी जकड़बंदी और उस दीवार के दोनों छोरों पर अपने-अपने पाले हुए अहं तथा मिथ्याडम्बरों का सजीव आलेख है।''[43]

भारतीय समाज अपने स्वरूप में अनूठा है। उसके अनूठेपन को अजीबोगरीब भी कहा जा सकता है। पाखण्ड और आडम्बरी व्यवहार भारतीय सवर्ण जन का वास्तविक परिचय है। वे स्वच्छता के इस हद तक हिमायती हैं कि अपने घर को साफ रखते हैं और पड़ोस को गंदा। भारतीय साहित्य और इतिहास भी एकसा ही गप्पी और पाखण्डी है। वह कौन सी व्यवस्था थी जिन्होंने यह साहित्य रचा? उत्तर ब्राह्मणवादी व्यवस्था। वास्तव में भारतीयता जिस रूप में प्रचारित की गई है, यह वही टुच्ची भारतीयता है। भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप आर्यों

से पूर्व कौत्स, ऐलूस की परम्परा में भी मिलता है। वह बुद्ध के वचनों , नाथों-सिद्धों की संधा भाषा, अश्वघोष की वज्र-सूची, कबीर-रैदास की बानियों और बाबा साहेब अम्बेडकर के भाषणों में भी झिलमिलाती है। पर वे सब सिरे से खारिज कर दिये जाते हैं और संस्कृति तथा सभ्यता के नाम पर अश्लीलता और अत्याचारों से भरे वेदों-पुराणों, स्मृतियों, गीता और राम चरित मानस पढ़े-पढ़ाए जाते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने इसी लिए हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को स्वर्णजड़ित बदबूदार कूड़ाघर कहा था।

नागर जी ने भी इसी सभ्यता के कण-कण में रिसने वाली सड़ांध तथा कुलीन संस्कारों की तह में जाकर डाइनामाइट लगाने का प्रयास किया है। सन् 1976 के आस-पास इस उपन्यास की रचना प्रक्रिया आरंभ हुई थी। उत्तर भारतीय समाज तब भी मध्ययुग में ही जी रहा था। सिर पर मैला ढोने की प्रथा तथा मरे जानवरों को खींचने का काम बदस्तूर चल रहा था। नागर जी ने एकसे विषम समय में समाज के तथाकथित हीनतम वर्ग की विपदा को अपने लेखन का केन्द्र ही नहीं बनाया, अपितु वे स्वयं उनके बीच गए भी। नागर जी ने इस समाज के घृणित तथा आश्चर्यजनक रूप से अमानवीय परिवेश को सहृदय ढंग से देखने का उपक्रम किया और सिर पर मैला ढोने की परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाई। "एक तो हम समझते हैं कि यह तथाकथित नीच जातियां नितांत चरित्र शून्य होती हैं और दूसरे हमारी धारणा यह बंधती है कि इन्हें केवल हमारी सहानुभूति तथा दया ही चाहिए। मैं समझता हूं, यह दोनों बातें गलत हैं। यह हमसे केवल न्याय चाहते हैं।"[44]

इसी तर्ज पर वे दलित नवयुवकों के आक्रोश को भी **जस्टीफाई** करते नजर आते हैं। उनमें व्याप्त रोष-असंतोष के लिए वे उन्हें उत्तरदायी नहीं मानते बल्कि उस व्यवस्था को कसूरवार ठहराते हैं जिसने हजारों वर्ष से व्यक्ति की स्वतंत्रता को धार्मिक आधार पर कैद रखा। "ये लड़कों का दोष नहीं है निर्गुनिया जी। हमारी श्रद्धा ही खोखली हो गई है। जिन लोगों से आपके वर्ग को सदा बंधन और अपमान ही मिला हो, उनके प्रति स्वाधिकार की चेतना जाग उठने के बाद अश्रद्धा और अविश्वास उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।"[45]

इस प्रकार **काम** की सूत्रबद्ध चर्चा के साथ-साथ उन्होंने दलित समस्या, नारी-समस्या, आडम्बरी व्यवहार [हिप्पोक्रेसी] तथा धर्म-परिवर्तन की समस्या को भी अपने उपन्यास में उठाने की चेष्टा की है। किंतु " अपने लम्बे और

खून का हिस्सा बन चुके इन वर्ग संस्कारों से मुक्त हो पाना न तो बहुत आसान है और न ही यह सब कुछ थोड़े समय में मुमकिन है। यही कारण है कि इस उपन्यास **नाच्यौ बहुत गोपाल** में वर्ग संस्कारों के अतिक्रमण की एक समूची प्रक्रिया दिखाई देती है।''[46] निस्संदेह नागर जी एक कुशल किस्सागो थे।

नाच्यौ बहुत गोपाल नागर जी की उत्कृष्ट लेखन शैली की एक अपूर्व रचना है। **काम** मानव की आदिम जरूरत है और इस जरूरत पर लिखना अनिवार्य रूप से साहस और विद्वता की मांग करता है। नागर जी में ये दोनों ही गुण विद्यमान हैं। उन्होंने इस समस्या को बखूबी संभाला, संवारा और जरूरत पड़ने पर उधेड़ा भी है। नागर जी अपने इस फन में माहिर हैं। भाषा, पात्र-चित्रण, कथानक, कथोपकथन, मुहावरे, लोकोक्तियां-सभी के स्तर पर नागर जी जैसे अपनी अन्य रचनाओं में हाथ आजमाते हैं, वैसे ही **नाच्यौ बहुत गोपाल'** में भी आजमाते हैं।

नाच्यौ बहुत गोपाल बहुत कुछ तो अपने कलेवर के चलते भी अद्‌भुत बन पड़ा है। पात्रों को जीवंतता और सजीवता देने के लिए वे कुछ ऐसी घटनाएं गढ़ देते हैं कि पाठक विस्मित हो जाता हैं कि कहीं यह सत्य घटना तो नहीं है। निर्गुण की डायरी इसी क्रम की एक घटना है। शिल्प गढने में नागर जी का कौशल अद्वितीय है, अप्रतिहत है। यह उपन्यास नागर जी का मौलिक तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से सर्वथा नवीन है। यह उपन्यास अपने प्रयोग और भाषायी तेवर के कारण प्रभावकारी तो है ही साथ ही **निर्गुण** के चरित्र के माध्यम से समाज में मूल्यों की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध भी है। यह उपन्यास इन्टरव्यू शैली में लिखा गया है। यदि इसे उपन्यास न कहकर सामाजिक सर्वेक्षण कहा जाए तो वह इसकी सीमाएं निश्चित करता है। किंतु मूलतः वह साहित्य रचना ही है। हाल ही में इसी तर्ज पर मैत्रेयी पुष्पा पर **अल्मा कबूतरी** लिखने के कारण गजेटियर लेखन का आरोप लगा था। यह आरोप नागर जी के मामले में भी आधारहीन है।

इस उपन्यास में नागर जी ने दो पीढ़ियों के अंतराल को भी शब्दबद्ध किया है। आधुनिकता के इस प्रसंग में यह उपन्यास पीछे नहीं रहा। ''आज का उपन्यास अधिक आक्रोशपूर्ण है जो कि स्वाभाविक भी है। क्योंकि आज की युवा पीढ़ी विद्रोह में जी रही है। चरमराता हुआ आर्थिक ढांचा, बढ़ती हुई बेरोजगारी,

राजनीतिक दलबंदी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार और अस्तित्वहीनता ने जीवन को त्रस्त कर दिया है।''[47]

नागर जी में बड़े ही संयत ढंग से सपाट शब्दों में एक पूरी पीढ़ी की समझ एवं दर्शन को उकेर देने का माद्दा है। ''मैं ? सच बताऊं ? बुरा तो नहीं मानिएगा ? जैसे आज नीली साड़ी पहनी, कल पीली, परसों गुलाबी उसी तरह से कहिए तो धर्म रोज ही बदलती रहूं। धर्म तो उन लोगों का ढकोसला है जो अपने आपको ऊंची जात का मानते हैं। मुझे तो बस गॉड पर फेथ है।''[48]

नागर जी का भाषायी तेवर तो इतने रंग बदलता है कि पाठक के सम्मुख पात्र जीवंत हो उठता है। यह नागर जी की विद्वता ही है कि वह पात्र की स्थानीयता अर्थात उसके मूल अधिवास के अनुसार ही संवाद की भाषा रचते हैं। वहां किसी प्रकार की चूक नागर जी को अभीष्ट नहीं है। उनकी विकसित एवं परिपक्व लेखकीय प्रतिभा इस सत्य को जरा भी ढीला नहीं छोड़ती। जब सुशिक्षित शर्माजी संवाद बोलते हैं, तब वह परिनिष्ठित परिमार्जित तथा सुसंस्कृत भाषा होती है। उनकी भाषा शुद्ध उच्चरित ही नहीं ज्ञान तथा शिष्टता से भी ओत-प्रोत होती है।'' ''आपने एकदम दार्शनिक सवाल ही उठा दिया। यह जीव जो आज हमारी काया में ब्राह्मण बनकर बैठा है, पिछले जन्मों में कीट, पतंग, चाण्डाल, वैश्य, म्लेच्छ जाने क्या रहा होगा। इसलिए जीव को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। काया भी ब्राह्मण नहीं कहला सकती। सबकी एक जैसी होती है। रंग या वर्ण भी नहीं । 'करिया ब्राह्मण गौर चमार' भी होता है।''[49]

नागर जी शर्मा जी की पत्नी के संवादों में एक भिन्न किस्म की घरेलू गंध डाल देते हैं जो अक्सर परिवारों में घर और परिवार जनों की सीमा तक महदूद रहती है। ''मरी रांड की''। उनकी नाक चढ़ी तो मुझे मजा आ गया। मेरे हंसने पर वह और चहकी, कहा, ''हंसते हो ऊपर से। तुम्हें खिलाने के लिए तो बैठी हूं अब तक। और घंटे दो घंटे तपस्या करनी पड़ेगी निगोड़ी । मेरी पत्नी ने दरवाजे का कुण्डा बंद करते हुए अनख कर कहा।''[50] किंतु वहीं जब अनपढ़ दलित मजीद संवाद बोलता है तो उसके अन्दर एक पूरी जाति बोलती है। भाषा बहता नीर है। परंतु भारतीय संदर्भों में भाषा कुंए का पानी भी रही है। प्राचीन समय में तथाकथित निम्न जातियों को संस्कृत पढ़ने का ही नहीं बोलने का भी अधिकार नहीं था। वह संस्कृतेतर स्थानीय भाषा बोलते थे। नागर जी ने इस प्रवृत्ति की बखूबी पकड़ा है। मजीद की भाषा की बानगी देखते ही बनती है।

''सलामतियां रहे हुजूर की। बड़ा दिल पाया है, बड़ा रुतबा पाया हैगा आपने। गरीबों के भगवान हैं आप, लेकिन अगर हुजूर को तकलीफ देने से मेरा कोई फैदा होता तो यह भीख भी मांग लेता। मगर सरकार अभी पन्द्रह दिन पहले ही एक किस्सा हो चुका हैगा। हमारे कई लोग डिपोटीशन लेकर उप्पर शासक के पास गए थे।''[51]

नागर जी के इस उपन्यास में भी उनके अन्य उपन्यासों की ही भांति लखनऊ स्पंदित होता है। भाषा में वही लखनवी नफासत, नजाकत और लच्छेदारी है। भाषा जहां एक ओर पात्र को जीवंत बनाती है, वहीं दूसरी ओर वह रसास्वादन में भी सहायक होती है। भाषा शैली का ऐसा जीवंत स्वरूप, अंग्रेजी - हिन्दी - उर्दू मिश्रित चलताऊ भाषा के कारण ही संभव हो पाया है। नागर जी की रचनात्मक और संवेदनात्मक प्रतिभा कथानक के प्रत्येक रंग को ढंग से पकड़ने में सफल रही है। यह उनकी अनुभव सिद्धता तथा यायावरी के दौरान हस्तगत मुक्ताओं की ही आभा है।

''इस उपन्यास की भाषा जिंदगी से लबरेज, संघर्ष से रगड़ खाती हुई भाषा है। निहायत बोलचाल का अंदाज, ठेठ घरेलू शब्द - प्रयोग नागर जी की विशेषता है।''[52] यह निर्विवाद है कि इस उपन्यास में दलित मोहना, पथभ्रष्ट निर्गुण, दारोगो बसंतलाल, गुल्लन दाई, अम्मा, मसुरियादीन, अफसर बेगम सभी पात्र भाषिक प्रयोग और उच्चारण में अपने वर्ग चरित्र को जीते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **नाच्यौ बहुत गोपाल** में नागर जी जहां **काम** जनित समस्याओं के विवेचन और शल्यक्रिया पर पूर्णतः सफल हुए हैं, वहीं दलित समस्या को वे बस सहानुभूति पूर्ण ढंग से छू ही पाए हैं। वे समस्या पर प्रकाश डालते हुए उसका उपचार भी सुझाते हैं किंतु वह उपचार वही मानस परिवर्तन और विद्रोह का शमन है जिसे गांधी ने 'प्रिसक्राईब' किया था। वह स्वयं शर्मा जी के माध्यम से प्रगतिशील सवर्णों की भी खबर लेते हैं, पर वह बहुत औपचारिक हो गया है। वह यंत्रणा से गुजरना नहीं अपितु यंत्रणा को प्रगतिशील ढंग से महसूस करना है। नागर जी के प्रेरणा पुरुष गांधी जी हैं जिनकी चर्चा उपन्यास में लगातार होती ही रही है। उनके सिद्धांतों और कार्यों को उन्होंने पात्रों के माध्यम से भी बुलवाया है। पर डॉ. अम्बेडकर जिन्होंने सर्वप्रथम इस समस्या को उठाया था, वे इस पूरे उपन्यास में नजर ही नहीं आते। आरंभ में एक स्थल पर वे उनकी चर्चा करते अवश्य हैं, पर बहुत ही नकारात्मक

ढंग से। वे उन्हें दल-बदलू की तर्ज पर धर्म-बदलू करार देते हैं। यहां वे कुछ अति कर गए हैं। निर्गुण से मिलने वाले दिन मोहना के संवाद में जो दलित दिखता है, वह अगले ही दिन आश्चर्यजनक रूप से प्रांजल हो जाता है।[53]

यह वही संस्कार है जो अवचेतन से चेतन को नियंत्रित करते हैं। स्वयं नागर जी ने अपने साक्षात्कार में स्वीकार किया है कि उपन्यास लेखन का कारण काम की समस्या है। उनकी प्रगतिशीलता दलित साहित्यकारों को स्वीकार्य है किंतु इसी के साथ-साथ वे उपन्यास में कई जगह ऐसी घटनाओं, चित्रों का वर्णन कर गए हैं जो प्रामाणिक नहीं हैं। दलित साहित्य का प्राण स्पंदन अम्बेडकरी दर्शन है; गांधी विचारधारा नहीं। अत: यह उपन्यास दलित साहित्य की किसी भी श्रेणी में नहीं आता।

उपन्यास : दलित जीवन के सत्य

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण में वंशानुगत (Heredity) तथा परिवेशगत (Environment) कारकों की सहभागिता होती है। व्यक्ति की सोच, समझ तथा चेतना की परिपक्वता में इन दो कारकों का ही सम्मिलित प्रभाव होता है। हम जो कुछ सोचते हैं, उसके कोण तथा गोलाइयां इनके प्रभाव में ही रूप पाते हैं। फिर भले ही वह व्यक्ति वैज्ञानिक हो या लेखक, रिक्शा चालक हो या अध्यापक, वह उसके व्यवहार और चिन्तन में प्रतिध्वनित अवश्य होता है। जब हम यह तर्क-सरणि भारतीय संदर्भों में जाति-व्यवस्था की ओर उन्मुख करते हैं तो पाते हैं कि यह सौ फीसदी सही है। भारतीय समाज जिन वर्णों तथा वर्गों, तत्पश्चात उपवर्गों में विभाजित है, वे अपने पूरे रंगों के साथ उपस्थित होता है। दलित समाज अपने वंश तथा परिवेश से संस्कार, सोच तथा चेतना पाता है, उसी तरह सवर्ण समाज अपने परिवेश तथा वंशानुगत समाज से संस्कार पाता है। भिन्न समाजों के अध्ययन तथा उस परिवेश में जीने-विचरने से भी कई बार संस्कारों में आमूल परिवर्तन आ-जाता है, किंतु यह बहुधा संभव नहीं है।

नागर जी के पारिवारिक संस्कारों तथा परिवेशगत कारणों पर हमने चर्चा करते हुए पाया कि वे लगभग हमेशा ऐसे परिवेश में पले-पढ़े, जहां उनके वंश के संस्कार मेल खाते थे। कुछ स्थानों तथा रीति-रिवाजों पर उन्होंने प्रतिक्रिया भी की, जो उनके आग्रही स्वभाव को तो प्रदर्शित करता है किंतु विद्रोही स्वभाव को नहीं। नागर जी की पारिवारिक तथा परिवेशगत पृष्ठभूमि की पुनर्चर्चा न करते हुए हम इतना ही स्पष्ट करेंगे कि वे एक सनातनी परिवार और परिवेश में

पले-बढ़े थे। हिंदू (सनातन) धर्म के संस्कारों, देवी-देवताओं, ग्रंथों तथा काव्यों और उनके रचयिताओं के प्रति उनके हृदय में तथा उनके परिवेश में अपार-अगाध निष्ठा आजीवन रही। तुलसीदास (उनके शब्दों में गोसाईं बाबा) तथा उनकी काव्य रचना "मानस" तो उनके लिए अतुलनीय रूप से श्रद्धेय थी। यह एक साहित्यकार की दूसरे भूतपूर्व वरिष्ठ साहित्यकार के प्रति कृतज्ञता या आदरसूचक भावना नहीं थी, अपितु एक जन्मना ब्राह्मण साहित्यकार की एक जन्मना-ब्राह्मण लेखक द्वारा ब्राह्मणवाद के पोषण के प्रति कृतज्ञता थी। वे सूरदास, कुतुबन और जायसी के भी प्रशंसक रहे किंतु कबीर उनके किसी भी प्रकार इष्ट नहीं रहे।

1972 में अपने लेख 'भारतीय साहित्यकार- कुछ सवाल' में वे चैतन्य-महाप्रभु तक से अभिभूत दिखाई देते हैं। यह वही समय है, जब 'मानस का हंस' का सृजन चल रहा था। यह आभिभूत्य चैतन्य की श्रद्धाविकल भक्ति से अधिक उनकी जातीय प्रतिष्ठापना के प्रति है। "मेरे सामने 15वीं शताब्दी के बंगाल का चित्र आ रहा है। हुसैनशाह और काला पहाड़ ने पराजितों की जातीय अहंता को चूर-चूर करके धूल में मिला डाला, नदिया के बड़े-बड़े स्वनाम धन्य पण्डितों की टेंट से ब्रह्म और माया खिसक-खिसक पड़े हैं, ज्ञान केवल शास्त्रार्थ की महफिलों का तमाशा बनकर रह गया है। तलवार की नोंक छाती पर रखकर बौद्धिकों और विचारकों को धमकाया जा रहा है कि अपनी मान्यताओं को झूठा मानो और हमारी मान्यताओं के आगे सिर झुकाओ। सचमुच कुण्ठा, संत्रास और अनास्था से भरा-पूरा था यह युग। उस मुर्दा युग में जान डालने वाला था कि एक प्रतिभाशाली नौजवान बौद्धिक निमाई। अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित के कलेजे में नियति ने मानो उसकी जाति के सारे आंसू बटोरकर उसे करुणा का सागर बना दिया था। ... श्री निमाई और नित्यानंद ने बंगाल की भूतपूर्व बौद्धमताबलंबी और वर्तमान में समाज च्युत जातियों को वैष्णव बनाकर उनकी मर्यादा स्थापित कर लाखों में जान फूंक दी।"[54]

नागर जी, निमाई जी और नित्यानंद में एक समरूपता है और वह यह कि वे सभी 'सवर्ण' हैं। धर्मान्तरण के पक्ष में नागर जी व्यक्तिगत और साहित्य में कभी नहीं रहे, पर यहां वे इसे लाखों में जान फूंकना मानते हैं। दूसरी ओर जब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और बौद्ध बनते हैं तब उनकी निष्ठा बदल जाती है।

नागर जी के इस अभिमत के साथ ही हम यह भी स्पष्ट कर चलें तो अधिक समीचीन होगा कि समाज-परिवर्तन में उनका प्रेरणा-स्त्रोत अथवा आराध्य

कौन है ? चूंकि वे साहित्यकार और जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया कि परिवेश तथा वंश-संस्कारों का अमिट प्रभाव व्यक्तित्व पर होता है, इस स्थिति में उनके साहित्य में ये संस्कार अवश्य प्रतिबिंबित होंगे। 1978 में 'आग तो चेताओ रे' लेख में वे गांधी और आर्यसमाज को स्पष्ट तौर पर हिन्दू धर्म में सुधार के लिए उत्तरदायी मानते हैं। "आर्यसमाज और गांधी के सामाजिक सुधारों ने रूढ़िवादी सनातन ढांचे को यद्यपि पूरी तरह से तो न तोड़ा था, पर उसे जर्जर अवश्य कर दिया था।" [55]

विचारणीय है कि 1978 में ही उनका तथाकथित हरिजन (दलित) समस्यामूलक 'नाच्यों बहुत गोपाल' प्रकाशित हुआ था। बकौल नागर जी "एक उपन्यास मेहतरों के जीवन को लेकर लिख रहा हूं।" [56] नागर जी मेहतरों (दलितों) के जीवन को कथावस्तु बनाकर उपन्यास अवश्य लिख रहे थे किंतु क्या यह उपन्यास उनकी समस्या के प्रति सहानुभूति जागृत कर पाता है ? क्या नागर जी दलित समस्या के प्रति संवेदनशील थे या वे प्रगतिशील ढंग से ही सोच रहे थे ? क्या गांधी और आर्य समाजियों के अलावा तत्कालीन कोई अन्य महापुरुष उनकी दृष्टि में था जिसका उपन्यास में वे जिक्र करते हैं ? उन्होंने अपने वक्तव्य में स्पष्टत: स्वीकारते हुए कहा, "सामाजिक स्तर पर हरिजनोद्धार आंदोलन का जो कार्य बापू के हाथों हुआ, जमनालाल बजाज के द्वारा हुआ; उसी कार्य को साहित्य के माध्यम से उपन्यास के द्वारा आगे बढ़ाने की भावना मेरे मन में है।" [57]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नाच्यौ बहुत गोपाल' गांधी तथा विख्यात व्यापारी जमनालाल बजाज के हरिजनोंद्धार का ही विस्तार है। नागर जी कहीं भी डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर की क्रांति चेता प्रतिभा को चित्रित नहीं करते। क्या नागर जी डॉ. अम्बेडकर की प्रतिभा तथा उनके कृत-कार्यों से अवगत नहीं थे ? नहीं - ऐसा नहीं है, वे भूमिका में उनके जाति संबंधी मत का उल्लेख करते हैं, किंतु फिर भी वे क्यों उनके सामाजिक परिवर्तन तथा दृष्टिकोण का उल्लेख नहीं करते हैं ? क्यों वे डॉ. अम्बेडकर के समाज-परिवर्तन के दृष्टिकोण का युक्तिसंगत नहीं मानते ? दलित साहित्य का वैचारिक प्रस्थान अम्बेडकरी दर्शन है। दलित, दलित साहित्य तथा दलित साहित्यकार डॉ. अम्बेडकर और उनके विषमताभंजक दर्शन का ही अनुसरण करता है। गांधीवादी विचारधारा चूंकि हृदय-परिवर्तन तथा सहानुभूति केन्द्रित है, अत: दलित साहित्य में इस

'आपद्काले मर्यादा नास्ति' की तर्ज पर वे कुछ समय सीमा तक उस परिवेश तथा परिस्थिति को स्वीकार भले ही कर लें परंतु समय मिलते ही उनके संस्कारों का फन अवश्य उठता है। उपन्यास की प्रमुख मात्र निर्गुनिया इसका साक्षात उदाहरण है। नागर जी द्वारा लिखित इस उपन्यास का यह अंतिम वाक्य वाकई अंतिम वार है जिसके माध्यम से वे अपने दलित विरोध में स्पष्ट होकर आ जाते हैं।

नागर जी ने चरित्र निर्माण तथा उनके नामकरण में भी पूर्वाग्रह-ग्रस्तता दिखाई है। यह प्रामाणिक तथ्य है कि शिक्षित समाजों में नामकरण शिष्ट और पारंपरिक संस्कारगत रीति से होता है और इस अर्थ में अंशुधर शर्मा, मसुरियादीन, बटुक प्रसाद, बृजरानी (अम्मा), प्रज्ञा (नानी), अदिति (मां), बसंत लाल, शकुंतला, निर्गुण मोहन आदि के नामकरण प्रामाणिक लगते हैं। किंतु निर्गुन के नाना जिन्हें लोग 'व्यासजी' कहते हैं, बहुत विख्यात कथावाचक थे। उनकी शास्त्र-निष्ठा अगाध थी और वे इस सीमा तक 'धार्मिक' (?) थे कि ''गंगाजल के अलावा'' और कोई पानी कभी नहीं पीते थे। वे श्री गुसाईं जी की रामायन तथा भागवत, शिव पुराण, गरूड़-पुराण सब बांचते थे।'' [60]

उन महान पंडित की दोहती का नाम 'निर्गुण' कुछ शंका उत्पन्न करता है। सगुणोपासक ब्राह्मण की नवासी का नाम 'निर्गुण' कैसे संभव है ? क्या नागर जी ब्राह्मण वर्ण से निष्कासित 'निर्गुण' का नाम सायास नहीं रखते हैं ? इसी अनुक्रम में यदि हम अशिक्षित समाज (तत्कालीन दलित समाज) के चरित्रों के नामकरण को देखें तो वे सभी प्रामाणिक लगते हैं। सुबरातिया (माई), चन्दर (मामू), दुलारो, गुल्लन दाई, मसीताराम, नब्बू, कालू, मजीद, मज्जू, उसका भाई गुल्लू आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं। किंतु फिर भी उसी समाज का होने के बावजूद मोहना का नामकरण मोहन सिंह क्यों किया जाता है ? क्या जद्दू ठाकुर की अवैध संतान मोहना के प्रति नागर जी अनायास ही कृपालु हो गए हैं ? वे निर्गुण के पति का नाम सिर्फ 'मोहना' ही नहीं रखते बल्कि उसका पूरा नाम मोहन सिंह स्पष्ट करते हैं। यह नाम उपन्यास के अंत में उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है, जहां वह मुरलीधर मोहन होकर सनातनी ढ़ांचे के 'चंदोवे' को और मजबूत करता है।

उपन्यास का शीर्षक भी जहां एक ओर लेखक में सनातनी संस्कारों की गहरी जड़ों को इंगित करता है, वहीं दूसरी ओर समस्या के एकांगी होने को भी

स्पष्ट करता है। वस्तुतः उपन्यास में एकमात्र और मूल समस्या 'काम' की है जो इस भजन में ध्वनित होती है।

क्या नागर जी दलित (मेहतर) समाज के जीवन की पीड़ा, उत्ताप, कराह तथा टूटन का प्रामाणिक चित्रण अपने उपन्यास में करते हैं ? प्रथमतः तो वे दलित समाज के चित्रण को ही उपन्यास में गौण मानकर चले हैं और दूसरी ओर जहां कहीं भी प्रसंगवश (प्रगतिशीलतावश) उनका चित्रण हुआ, वहां वे बड़े हास्यास्पद रूप में चित्रित किए गए हैं। आमतौर पर सवर्ण समाज के लिए दलितों का जीवन उसकी शैली हास-परिहास की क्रीड़ास्थली रही है। दलितों पर बनी अनेक लोक-कहावतें इसका प्रमाण हैं। "चमार की बेटी, नाम लिछमिनिया, इस कहावत में स्पष्ट संकेत है कि चमार की बेटी का नाम लक्ष्मी कैसे हो सकता है ?" [61]

सर्वप्रथम वे अंशुधर शर्मा के माध्यम से दलित जाति की स्त्रियों के रूप-गुण वर्णन करते हैं। उनकी शब्दावली ही मनोरंजन प्रधान है, वह कहीं भी कुरूप हो जाने के कारणों की पड़ताल नहीं करते। परंतु उसमें रस लेने से वे कतई नहीं हिचकते। क्या इस अर्थ में समधर्मा-समव्यस्क अंशुधर शर्मा का लम्पटपन ही दिखाई नहीं देता है ? "कभी-कभार उनकी बातें या लड़ाई-झगड़ों के दृश्य देखते हैं, जवानी में दो-एक नई ब्याहली भंगिनों के सलोने चेहरे भी जब-तब दिखलाई पड़ जाने पर मेरे मन में रस का स्पर्श दे जाते थे। उनमें से एक चेहरा जो जवानी में जैन-रामायण की चन्द्रनखा जैसा सलोना लगता था, अब बुढ़ापे में वाल्मीकि तुलसी रामायण की सूपनखा सा बदसूरत हो गया है।"[62]

नागर जी यह मानते हैं कि जवानी में जो सुघड़-सुंदर औरत थी, वह बुढ़ापे में कुरूपा हो गयी। किंतु उसी क्रम में ब्राह्मणी निर्गुण का चित्रण करते हुए वे गद्‌गद हुए जाते हैं। क्या ब्राह्मणी निर्गुण की जवानी की तेजस्विता बुढ़ापे तक बरकरार रहती है ? क्या उसने वही दुख-दर्द, मेहनत-मशक्कत के फफोले नहीं सहे जो अन्य सजातीय दलितों ने सहे ? किंतु नागर जी इस प्रश्न पर मौन हैं। वे भावविह्वल होकर लिखते हैं, "एक भरे-चिकने बदन की सुंदर से अधिक आकर्षक-तेजस्विनी बुढ़िया ओढनी-लहंगे के लिबास में मेरे सामने खड़ी थी। चेहरे पर जमाने की कड़ी मार से बनी कुछ रेखाएं अवश्य थीं, पर झुर्रियां अभी तक नहीं पड़ी थीं। आंखों में चुम्बक था जिसने मुझे भी खींचा। आवाज भी शिष्ट और मधुर थी।" [63] व्यभिचारिणी और अय्याश निर्गुण के प्रति नागर जी

की यह विनम्रता अनायास नहीं लगती। उपन्यास में निर्गुण के प्रति उनका यह अपनत्व अनेक स्थलों पर उद्‌घाटित हुआ है जिसकी चर्चा विस्तार में हम आगे करेंगे।

नागर जी दलितों की बस्ती में हुए झगड़े-फसादों का चित्रण भी बहुत काल्पनिक तथा मनगढ़ंत ढंग से करते हैं। मनुष्य का समुदाय जहां रहता है, वहां मतभेद अवश्य होते हैं। प्रत्येक समाज के मतभेद व्यक्त करने के अपने ढंग हैं। यदि इन झगड़ों में कहीं सत्यांश है भी तो वे सहानुभूतिपूर्ण होकर उस पर विचार करने की अपेक्षा चटकारे लेते हुए वर्णन करते हैं। वे उनका दुख वर्णन कर पाठक को भाव विह्वल नहीं करते। ऐसा नहीं है कि नागर जी इसमें कुशल नहीं हैं, बल्कि ऐसा करना शायद उन्हें अभिप्रेत नहीं है।

''मैं हरगिज-हरगिज नहीं जाऊंगी इस कमीने के साथ कोई धौंस है। वाह! दूसरा पुरुष गरजा, ''जाना तो तुझे पड़ेगा ही हरामजादी। चाहे हंस के जा, चाहे रो के जा। मेरे पास पन्द्रह सौ रुपये नहीं है कि जमादार और दारोगा और चीफ साहब को चटाकर अपने लिए काम पा सकूं।

तो काम पाने के लिए अपनी औरत की इज्जत लुटाएगा हरामजादे, तुझे शरम नहीं आती हैगी।'' [64]

अव्वल तो प्रश्न यह उठता है कि क्या नागर जी को दलितों की आर्थिक तंगी को चित्रित करने के लिए कोई और बिम्ब नहीं मिला ? दूसरे क्या इस पूरे प्रसंग से पाठक के मन में इस वर्ग की हृदयविदारक विपदा का मार्मिक प्रभाव पड़ता है ? उत्तर ... नहीं। उलटे यह दलित जातियों के प्रति पाठक के मन में वितृष्णा भरता है। वह इस प्रसंग में मजा लेता है। स्वयं लेखक के लिए यह ''गरमागरम पकौड़ियों की तरह 'गरमागरम' बातें थीं।'' [65]

वास्तव में नागर जी का यह चित्रण अप्रामाणिक ही नहीं, अमानवीय भी है। यह मानवीय और प्रामाणिक तभी हो पाता, जबकि नागर जी इस विषमता के कारणों की जड़ों में जाते और उत्तरदायी जाति व्यवस्था की बखिया उधेड़ते। परंतु वे ऐसा नहीं करते, पंडित अंशुधर शर्मा की पत्नी कांता तो इस मामले में और बढ़-चढ़कर दिखाई देती है। वे मेहतरानी निर्गुण द्वारा शराब न स्वीकारे जाने पर ही विस्मित दिखाई देती हैं। उनके देखे से तो ''पिछवाड़े रोज ताड़ी-ठर्रे के लिए सिर फुटौव्वल होती है। उसके बाद भी उन्हें सब्र नहीं होता और वे

'मेहतरानी' के किसी रंगीले तबियत वाले नवाब या सेठिए से संबंधों की संभावना व्यक्त करती हैं अथवा जवानी में किसी पैसे वाले की जमा मारने का अंदेशा करती है।''[66]

लेखक निर्गुण के मामले में उनका प्रतिवाद करता है किंतु ज्यों ही वह इस सत्य को पूरी जाति पर मढ़ देती है, वह चुप हो मौन स्वीकृति दे देता है। कांता अपने फ्रिज-हीटर के अभावों का जिक्र करते हुए तमाम मेहतरानियों को बदचलन, कुलटा साबित कर देती है। वे मानकर चलती हैं कि इन छोटी जाति वालों में इस काम का कोई विचार-विवेक तो होता नहीं है। ''हां, मेहतरानियों में अक्सर काफी सुंदर औरतें भी मिल जाती हैं। किसी विलासी बाम्हन-ठाकुर की अवैध संतान होगी।'' [67] उनका पति और नागरजी का समानधर्मा लेखक अंशुधर शर्मा भी इसका प्रतिकार न करके गिलास में दूसरा पैग डालकर निश्चिंत हो जाता है।

नागरजी अंशुधर शर्मा के भंगी बस्ती में मजीद के पास जाने पर बस्ती के दयनीय चित्रण की अपेक्षा मजीद के एकाएक खड़े होकर जवाब देने और हाथ जोड़कर अपनी गर्दन को फरमाबरदारी में हिलाने को अधिक तरजीह देते हैं। साथ ही वे कहीं भी स्पष्ट नहीं करते कि यह दलित जातियों की मानसिक गुलामी का प्रतीक है। बल्कि वे इसे बहुत स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण दिखाते हैं। लेखक वहां बैठता भी नहीं है। वे मजीद के कर्जे के कारण को भी बड़े शातिर ढंग से महर्षि वाल्मीकि की जयंती का धार्मिक रूप दे देते हैं। वे लिखते हैं, ''चलने लगा तो मजीद हाथ जोड़कर बोला, ''हो सके तो सरकार पांच का पत्ता देते जाइये, सुबह सुबह मेरा दिन गुलजार हो जाएगा। बाकी हम मेहतर लोग तो चौरासी लाख योनियों में नाचने क`लिए ही तो पैदा हुए हैं। कहां तक हमारी फिकर करिएगा।'' [68]

मजीद के उठकर सम्मान देने को जहां वे उचित ठहराते हैं, वहीं उनके संस्कार मेहतरानी निर्गुनियां के घर आने पर उनके उठकर अभिवादन करने पर अंकुश लगाते हैं। पर वे उठ जाते हैं और उठने के कारण में निर्गुण की जाति (दलित) नहीं बल्कि उसके तेज की चर्चा करते हैं। शर्मा जी की पत्नी कांता तो स्पष्टत: उसे ''किसी भले घर की करार देते हुए कहती है कि यह या तो खुद घर से भागी होगी या भगाई गई होगी और शर्मा जी (लेखक) को भी यह असंभव नहीं लगा।'' [69]

वास्तव में सवर्ण नजरों में दलित स्त्रियां भले घर की स्त्रियां नहीं होतीं। वे पतिता या व्यभिचारिणी होती हैं। सवर्ण स्त्रियां ही भले घर की होती हैं और सवर्ण घर ही भले घर होते हैं। क्या वे दलित जातियों के वास्तविक जीवन-चित्र हैं ? ठाकुर द्वारे में निर्गुण के सुन्दर काण्ड के श्लोक वाचन से शर्मा-दम्पत्ति दंग रह जाते हैं। उनका विस्मित होना स्वाभाविक भी था क्योंकि 1976-77 के आसपास किसी 75 वर्षीया दलित (भंगिन) वृद्धा द्वारा संस्कृत के श्लोकों का वाचन विस्मयकारी ही है। जिस हिंदू समाज में पददलित जातियों को अक्षर-ज्ञान देने पर मना ही हो, वहां देववाणी संस्कृत पढ़ना-बोलना तो आकाशीय बात है। संभवत: इसी श्लोक वाचन के चलते वे निर्गुण को 'भले घर' की कहते हैं। क्या अशिक्षित होने से दलित भले घर के नहीं रह जाते ? फिर क्यों दलितों को शिक्षा से दूर रखा गया ? किंतु नागर जी इस पर कोई विचार नहीं करते हैं। बस 'श्लोक वाचन' से उनके सामने बम सा फूट जाता है।

यूं नागर जी एक कुशल चितेरे हैं और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों की भी टोह लेते हैं। विडंबना यह है कि उनकी यह सारी प्रतिभा सवर्ण समाज की योग्यता और दलित समाज की अयोग्यता के चित्रण तक सीमित रह जाती है। वे निर्गुण मोहन के नामकरण तक के संबंध में गहन पड़ताल करते हैं। किंतु इस पड़ताल के निष्कर्ष में भी वे दलितों में प्रतिभा नहीं स्वीकारते। वे इसे किसी पंडित रक्षक का प्रसाद मानते हैं। इसके लिए वे जिन दृष्टान्तों का उल्लेख करते हैं, वे भी दलित जातियों के प्रति घृणा तथा मजाक उड़ाने का भाव ही पैदा करता है। ''मां-बाप के सम्मिलित नामों पर बेटे का नाम रखने वाली निश्चय ही निर्गुनियां होगी। उन्हें कहां से मिली यह प्रतिभा ? मेरी पत्नी ने एक बार बताया था कि उनके मामा या किसी ममेरे भाई को केवल सफाई-मजदूर वर्ग की स्त्रियों के लिए ही वासना की लपटें उठती थीं। झांसी में, सौ सवा सौ वर्ष पहले एक विद्वान शास्त्री एक भंगिन बाला में पद्मिनी के जब गुण-लक्षण देखकर रीझ उठे थे। उन्होंने उसके साथ पाप में डूबने के लिए अपने साथ सारे झांसी नगर को डुबो दिया था। ... निर्गुनियां को भी क्या ऐसा कोई पण्डित-रक्षक मिल गया था ? '' [70] यहां विस्मय की बात यह है कि पत्नी का ममेरा भाई, झांसी का शास्त्री तथा भंगिन के साथ पाप में डूबना बताने वाले नागर जी सभी ब्राह्मण हैं।

एक अन्य प्रसंग में नागर जी ब्राह्मणी निर्गुण को पर-पुरुष के भोग की ओर एक मेहतरानी द्वारा ही अग्रसर कराते दिखाते हैं। क्या निर्गुण का

विवाह-पूर्व का जीवन ही उसके बदचलन और पथभ्रष्ट होने के लिए पर्याप्त नहीं था ? किंतु वे ब्राह्मणी निर्गुण को पतिता बनाने के लिए दलित स्त्री को भी इस पाप कर्म में घसीट लेते हैं। "अरे मैं तो तुमसे कई बार कह चुकी रानी, जो तुम्हारे खसम ने किया वहीं तुम भी करो।" [71]

निर्गुण स्वयं चतुर है किंतु मसुरियादीन द्वारा दरवाजे-खिड़कियों पर ताले जड़ दिए जाने के कारण विवश है। अन्यथा वह कभी की अपनी जरूरतें पूरी कर चुकी होती। पर नागर जी इस कीचड़ में दलित स्त्री को लपेटने से बाज नहीं आए, साथ ही एक अन्य स्थान पर यह भी उद्घाटित करते हैं कि "बनना बिगड़ना तो ऊंची जातों का होता है। छोटी जात वालों की तो बिगड़ी ही तकदीर होती है।" [72] फिर यही दलित स्त्री मसुरियादीन जैसे धनी के द्वारा शारीरिक भोग के लिए पकड़ने पर क्यों चिल्लाती हैं ?

उपन्यास में दलित जातियों का चित्रण चोर-जातियों के रूप में भी किया गया है। चोरी चमारी जैसी कहावतें समाज में आम फहम हैं। ये कहावतें अगर सामाजिक जीवन के दर्शन का निचोड़ है तो ये स्थितियां भी समाज के तथाकथित निम्न वर्गों के निचोड़े जाने से ही उत्पन्न होती है। उनका अनवरत शोषण और भूखों मरने के लिए छोड़ देने के बाद समाज को किसी और परिणाम की अपेक्षा इन जातियों से नहीं करनी चाहिए। बंसी बाग मुहल्ले में एक लाला के घर चोरी का आरोप लड्डन दलित पर लगता है। उस दलित की मां, बहन, बेटी के साथ पुलिस सामूहिक बलात्कार करती है। नागर जी की इस पूरे प्रकरण में कहीं सहानुभूति दिखाई नहीं देती। बल्कि वे मानते हैं कि ये चोरी की लत नहीं छोड़ते। वे "मोहन के द्वारा पहले अपने पड़ोसियों को गाली दिलवाते हैं कि वे चोरी की लत नहीं छोड़ते।" [73]

बाद में वे मामू के माध्यम से भी इस तथ्य को स्वीकार करवाते हैं कि इन बुरे कर्मों से अपने वर्तमान नीच जन्म में भी पाप बढ़ाते जाते हैं। नागर जी संभवत: मानते हैं कि पिछले जन्मों के नीच कर्मों की वजह से ही इस जन्म में उन्हें तथाकथित नीच जाति में जन्म लेना पड़ा। वे लिखते हैं, "चौरासी लाख जोनो में पाप भोगते-भोगते तो भगवान ने हमें यह मानुख जलम दिया। बड़े भाग मानुख तन पायो। पर हमारे पापों ने उस भाग को भी अभागा बना दिया। तिस पर हम ऐसे अगियानी हैं कि पुराने जलम के पापों पर इस नीच जलम के भी पाप बढ़ाए चले जाते हैंगे।" [74] इसी तरह मसीता के ससुर पीटर को भी लेखक

चोर दिखाता है। ''कुछ रुपिया मसीता के बाप का लगा, दो-चार की कमी बेशी पीटर अक्सर अपने गोरे मालिक की जेब से चुरा-चुराकर पूरी कर देता था।''[75]

इसकी प्रामाणिकता के लिए वे दलित मसीता से ही अपनी जाति के लोगों को चोर कहलवाते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि मेहतर जाति चोर होती है। इसे यदि हम यूं समझें तो अधिक सुविधापूर्ण होगा कि सवर्ण जातियां दलितों को चोर तथा बदकार मानती हैं। ''मेहतरों में साले बड़े चोर होते हैं , बहुरुपिये। ये हमारी गुल्लो का नब्बू ही कम चोर हैगा।'' [76] इन घटनाओं के माध्यम से वे सभी मेहतरों को चोर सिद्ध कर देते हैं। अजब बात यह है कि इन चोरों में भी श्रेष्ठत्व की बात जहां आती है; वहां वे दलितों को खारिज कर देते हैं। वहां फिर सवर्णों का एकाधित्य है। ''मेहतरों में तो चोर तो सैकड़ों हुए पर डाकू बन के ऐसा नाम किसी ने नहीं कमाया।'' [77]

लेखक ने उपन्यास में दलित जाति की गरीबी और पीढ़ी दर पीढ़ी कर्ज के दुष्चक्र के मामले को उठाया अवश्य है, परंतु उनकी गरीबी और दयनीय अवस्था का चित्रण गुदगुदाता है, भाव-विह्वल नहीं करता है। मज्जू के मामले में लेखक उसके समलैंगिक संबंधों को कुशलता से बुनकर अरुचि का भाव ही उत्पन्न कर देता है। ''मतलब ये है कि जूते-लाज खाना तो खैर, जब मेहतर का चोला पाया है तो, एक तरह से हक ही है हमारा। बाकी कालू ने बहुत दुखी किया और कालू से ज्यादा वो साला, हरामी की औलाद लाला का बच्चा तन से धन से कहां तक कर्जा पाटूं। मेरे भीतर वाली आतमा भी मेरी मर्दानगी पर लानतें भेजती है।''[78]

इस उपन्यास में कर्ज और गरीबी के संदर्भ यत्र-तत्र-सर्वत्र है, परंतु विडंबना यही है कि वह सब लेखक के लिए एक खिलवाड़ और मजे की चीज बन गई है। वह चुटकी लेने से बाज नहीं आता। गरीब की टूटन, चिंता, उछाह, यहां दृष्टिगोचर नहीं होती। यूं तो नागर जी संवादों के बेहतरीन शिल्पी हैं, पर इन चित्रणों में उनकी निष्ठा ही बदल गई है। इन दलित जातियों की आह से निकले वाक्य उनके लिए 'मजेदार' और 'गरमागरम' बन जाते हैं। ''वे चलने लगी तो मेहतर का उखड़ा नशा एक मजेदार वाक्य कह गया। उसने कहा, कब तक खिलाओगी चच्ची! मेहतर साला तो करज में ही जनमता है और करज में ही मरता हैगा। आज एक तो कल दूसरा महाजन नटई दबाएगा, मरना तो है ही।''[79]

कहीं भ्रमवश (यूं तो वे चौकस हैं) पाठक को इस वर्ग की त्रासद जिंदगी से सहानुभूति न हो जाए, इसके लिए वे लतीफे भी सुनाते हैं। इन लतीफों में दलित की बुद्धि-योग्यता और उनके जीवन का मखौल उड़ाया जाता है। इससे पाठक के करूणा-विगलित होने की रही-सही उम्मीद भी खत्म कर दी जाती है। ''लगता है इस मेहतरी चाल की गिरस्ती ने आपको बड़ी तकलीफ पहुंचाई है। अजी भूलिए भी उस बात को। वो लतीफा सुना है न आपने कि एक दिन एक मेहतरानी अपने एक जिजमान के सुहागिन के ठसकों को देखकर रो पड़ी। किसी ने पूछा क्यों रोती है। बोली कि आजकल मेरा मरद मुझे प्यार नहीं करता है, नहीं तो मैं भी अपने सुहाग की ठसक में होती। तब पूछा गया कि भई तुझे कैसे मालूम कि प्यार नहीं करता। मेहतरानी बोली कि पहले तो हुजूर रोज मुझे लात-घूंसों से मारता था और अब निगोड़ा मुझसे हंस-हंस के बात करता हैगा। इसी से अंदेशा है।'' [80] क्या यही दलित जीवन का सच है ? क्या यही वह सहानुभूति का साहित्य है जिसे दलित अपना मानकर शिरोधार्य करें ?

उपन्यास में लेखक ने मेहतर जाति की उत्पत्ति तथा इतिहास के बारे में सविस्तार तथा साधिकार लिखा है। वे मेहतर जाति का इतिहास बहुत पुराना नहीं मानते। ''वे इसे जाति भी नहीं मानते और जाति मानते भी हैं तो गुलामों की जाति। इस अर्थ में यह जाति न रहकर वर्ग हो जाती है; सभी धर्मों, मतों तथा वंशों से बहिष्कृत लोगों का वर्ग। किंतु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि नारदीय संहिता में बखाने गए दासों के पन्द्रह कर्मों में एक मल-मूत्र उठाने का कार्य भी है। इसके साथ ही वह यह भी जोड़ देते हैं कि यह दास आमतौर पर वी.आई. पी. लोगों के यहां ही रहते होंगे।'' [81]

नागरजी के मतानुसार वे शहरों में शहरीकरण की अपेक्षा युद्धों के कारण अधिक बढ़े। गांवों में इनकी जगह पोखरा, बहरी अलंग, झाड़ा आदि प्राकृतिक स्थल हैं। इन सबसे ऊपर वे 'मार-मार के भंगी बनाने' के मुहावरे से जुनूनी हद तक सहमत हैं। उपन्यास में दर्जनों स्थलों पर वे इसकी चर्चा करते हैं। अपने साक्षात्कारों में भी वे बार-बार इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः मार-मार के भंगी बनाने के कोई और ठोस कारण वे इस समस्या के मूल तथा जाति की उत्पत्ति के संबंध में नहीं देखते। ''आपने सुना है ? वह मुहावरा ''मार मार के भंगी बनाना''। मतलब यह कि किसी राजवंश को अपमानित करने के लिए भी उस राजवंश के दास बनाए गए। सभी सदस्यों से ऐसा गर्हित और घृणित कार्य

कराया गया होगा। कई पीढ़ियों तक कराया गया होगा। कैम्पों में रहने वाले सैनिकों के जरिये भी, इस तरह का काम गुलामों से कराया गया होगा, मार-मार के। मार-मार के उन्हें भंगी बनाया गया होगा।''[82]

नागर जी इन्हें कई श्रेणियों में बांटकर देखते हैं। नागर जी की पत्रकार प्रतिभा इस कार्य में खूब इस्तेमाल हुई है। वे उनके बीच गए और उनसे एक पत्रकार की हैसियत से अनेक जाति-वैशिष्टयगत जानकारियां बटोर लाए। यह जानकारी प्रामाणिक है किंतु सार्थक नहीं है। वे भंगियों की परंपरागत उत्पत्ति के साथ-साथ मुगलों (मुसलमानों) के जमाने को इस परंपरा के लिए मुख्यत: उत्तरदायी मानते हैं। ''मैंने यह देखा कि इनमें भी अलग-अलग वर्गों के लोग हैं, एक मेहतर ने बतलाया कि उनके 24 गोत्र हैं। कुछ ऐसे वर्ग भी हैं जिनके लोग कुछ जगहों को छोड़कर बाकी कहीं मेहतर का काम नहीं करते। कुछ ऐसे हैं जो शायद कभी किसी बीते हुए राजकुल के लोग थे और अब मार-मार के सदियों से भंगी बना दिए गए हैं। कुछ शायद परंपरागत दास भंगियों के वंशज हैं जिनसे राजे-रईस, मंत्री-सेनापति जैसे वी.आई.पी. लोग अपना पखाना-पेशाब उठवाते होंगे। मुगलों के जमाने में बहुत से दास मेहतर बनाए गए।'' [83]

हम देखते हैं कि वी.आई.पी. लोगों से आशय शहरों में रहने वाले रईसों से ही है। परंतु भंगी जाति का जन्म नागरजी शहरों के विकास के साथ नहीं मानते हैं। नागर जी के मत में पराजित लोगों के धर्म भंग होने के कारण वे भंगी कहलाए और दूसरे परंपरागत दासों के वंशज है जो शहरों में मल उठाने का काम करते रहे थे। किंतु भारतीय ग्राम व्यवस्था में जहां मल उठाने का कोई प्रश्न ही नहीं है वहां भंगी जातियों के लोग नहीं होने चाहिए। किंतु उत्तर भारत में प्रत्येक गांव में आज भी इस जाति के दो-चार घर अवश्य ही हैं और यह स्थिति शहरों के समीपवर्ती गांवों में ही नहीं बल्कि दूर-दराज के गांवों की है। संभवत: परंपरागत दासों के वंशज अथवा पराजित व्यक्ति किन्हीं प्राकृतिक या अन्य कारणों से गांवों में चले गए होंगे, जहां वे कम से कम मैला उठाने से बच गए होंगे। परंतु यह निर्विवाद है कि शहरों के विकास के साथ भंगी जाति का विस्तार तथा वृद्धि हुई। साथ ही इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उत्तर-वैदिक काल में कुछ लोग मानव-मल के निपटान-कर्म को कर रहे थे। वे वर्तमान भंगी जाति के अनुरूप ही शहरों में कार्य करते थे। बौद्ध-ग्रंथ इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। बुद्ध के संघ में सुनीत नामक भिक्षु अपनी

जाति (पुष्क-धड़डक) और जाति के कार्य (मल-व्ययन) को बताता है।

बुद्धकाल लगभग 585 ई.पू. ठहरता है। "मौर्ययुग में भी इस व्यवस्था का पूरी तरह अनुपालन किया जाता था। उस समय नगर की सफाई व्यवस्था पर बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था। चाणक्य ने स्पष्ट विधान किया था कि प्रत्येक घर में एक रसोईघर और एक स्नानागार होना चाहिए। वह खुले मैदान में शौच करने वालों पर शुल्क लगाने के पक्ष में था।" [84]

किंतु क्या नागर जी का यह एकमात्र आग्रह कि युद्धों में पराजित लोगों के धर्म को भंग करने के फलस्वरूप भंगी जाति का उद्‌भव हुआ, स्वीकार किया जा सकता है ? क्या यह एकांगी सोच का प्रतिपालन नहीं है ?

वस्तुत: नारदीय स्मृति में उल्लिखित दास भंगियों के अलावा भंगियों की संख्या में वृद्धि का मुख्य कारण जहां शहरीकरण की तीव्रता है, वहीं युद्ध-दंगे, बाढ़, अकाल, रोग, महामारी आदि में टूटे तथा बिछुड़े हुए लोग भी हैं। इनमें वे भी लोग कालांतर में सम्मिलित होते गए जो जातियों में दंडित हुए अंग थे, भंगित अंग होने के कारण भी वे शायद भंगी कहलाए हों। डॉ. अम्बेडकर के मतानुसार, "अन्य देशों की तरह भारत में भी दासता की प्रथा थी। दास कई प्रकार के थे। युद्ध में पराजित लोगों को दास बनाया जाता था या फिर ऐसे लोग थे जो मजबूर होकर अपने आपको पैसे के बदले में बेच देते थे। दासों की पन्द्रहों श्रेणियां कानून द्वारा घोषित की गई हैं। पन्द्रह प्रकार के दासों की व्याख्या नारद स्मृति में की गयी है। परंतु ब्राह्मणों ने अपने स्थान और प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए कानून में संशोधन किया कि ब्राह्मण केवल ब्राह्मण को ही दास बना सकता था। अन्य वर्णों के लोग ब्राह्मण को दास नहीं बना सकते थे परन्तु शूद्र केवल शूद्र को अपना दास बना सकते थे। दास को जो काम करने पड़ते थे उनमें शौचालय साफ करना, झाड़ू लगाना, कूड़ा उठाना एक काम था।"[85]

इस प्रकार इस जाति के सूत्र उत्तर-वैदिक काल अथवा स्मृतिकाल में भी मिलते हैं! एडवोकेट भगवान दास भी "भंगी शब्द की व्युत्पत्ति में समाज के भंग किए हुए अंग को ही देखते हैं।" [86] किंतु यदि यह मान लिया जाए कि प्राचीन भारत के नगरों में मल निकासी की कोई न कोई व्यवस्था मौजूद थी, तो यह काम किसके जिम्मे था ? इस सवाल का हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। श्री गौस अंसारी, श्री एन.आर. मलकानी, श्री नागर जी सभी इस तथ्य से सहमत

हैं कि मुसलमानों की बढ़ती जनसंख्या के साथ इस जाति की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ी। परंतु भंगी शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नागर जी का एकमात्र तर्क नाकाफी है। ''भंगी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भी कई मत प्रचलित हैं। देहाती पेशे की विशेषता सूचक भी यह शब्द हो सकता है। गुजरात में बांस की टोकरियां बुनने वालों को भंगी कहा जाता है। जाहिर है कि बांस को भंग करना पड़ता है, इसलिए उन्हें भंगी कहा जाता है। समाज में बांस की टोकरियां बुनने का काम ओछा माना जाता है। ... एंथोविन के शब्दकोश में उल्लेख है कि उच्च वर्ण के सामाजिक बंधनों और आचार संहिता का पालन न करने वाले लोगों को बहिष्कृत किया जाता था और वे ही बाद में भंगी बन गए।'' [87]

नागर जी भंगियों की जनसंख्या में वृद्धि के लिए युद्धों को ही प्रमुखत: उत्तरदायी मानते हैं। उपन्यास में भी इसकी चर्चा एकाधिक बार हुई है। ''परंतु अंग्रेजों के भारत-आगमन के पश्चात् भारत में औद्योगीकरण और उसके फलस्वरूप रोजगार के अवसरों की अनुपलब्धता के कारण भी बड़ी संख्या में स्थानांतरण हुआ। परंपरागत हथकरघा उद्योग ब्रिटिश कपड़ा मिलों के सम्मुख खड़ा न रह पाया और वे कुशल श्रमिक मजदूर हो गए। इसी के चलते 1857 के बाद भंगियों की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई।'' [88] हम देखते हैं, ''छप्पनिया अकाल जैसे बड़े अकालों ने भी लोगों को स्थानांतरित किया और वे भूखों मरने से बेहतर इस व्यवस्था में जुड़ गए।'' [89] अत: यह स्पष्ट है कि नागर जी का ऐतिहासिक सर्वेक्षण भी बहुत प्रामाणिक नहीं है । वह एक ही कारण के बार-बार दुहराने के कारण और कमजोर होता जाता है।

उपन्यास में इस जाति के रीति-रिवाजों तथा धर्म संबंधी आचार-विचारों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक साहित्यिक कृति की एक सीमा होती है और वही सीमा इस उपन्यास की भी है। प्रसंगवश बात उठ जाने पर वे इसकी चर्चा करते हैं। ''तुम लोगों के यहां शादी कैसे होती है ? निकाह होता है या भावरें घुमाई जाती हैं ?

''निकाह नहीं होता हैगा, हुजूर, भौरियां ही घुमाई जाती है। पंडित आता है ?

जी हां। पर वो लगन-भर ही बांचता है। ब्याह नहीं कराता। '' [90]

इसी प्रकार धार्मिक कर्मकांड के मामले में भी नागर जी ने बड़ी कुशलता

से इस वर्ग का चित्रण किया है। इस जाति में उस समय तक धर्म की कोई दीवार नहीं थी। वे मुसलमान, ईसाई और हिन्दू जैसे अलग-अलग धर्मों को मानने के बावजूद एक दूसरे से विवाह-संबंध बनाते थे। वे अपने सगे-संबंधियों के मृत्योपरांत उन्हें दफनाते थे, न कि हिन्दू रीति के अनुसार दाह संस्कार करते थे। यह ठीक है कि मेहतर समाज के इन रीति-रिवाजों का उल्लेख उचित ढंग से किया गया है किंतु इसका प्रयोजन क्या है ? क्या इन रीति-रिवाजों के उल्लेख के द्वारा दलित जातियों के दर्द को उकेरा गया है ? 'जूठन' आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने सूअर की बलि के प्रसंग के माध्यम से अनेक मानवीय सवाल उठाए हैं, जिनसे दलित तथा सवर्ण जातियों के मन मथ जाते हैं। ऐसा कोई भी मंथन नागर जी के इस उपन्यास में उपलब्ध नहीं है। वे जो उपाय सुझाते हैं, वे भंगी कष्टमुक्ति के हैं, न कि भंगी मुक्ति के। वे विचार लोकतांत्रिक ढंग से सोच रखने वाले प्रगतिशील विद्वानों की ही भांति है।

भारतीय समाज की प्राचीन अमानवीय व्यवस्थाओं की चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। यदि हम सन् 1910 के उत्तर भारतीय नगरों में रहने वाले दलितों के जीवन को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि वे किस तरह नारकीय जीवन जी रहे थे। लगभग यही समय आलोच्य उपन्यास के एक खण्ड का भी है अत: यह विषयांतर भी न होगा। इस समय का दलित समाज अशिक्षा तथा उससे उपजे अंधविश्वास, अस्वच्छता तथा अस्वास्थ्यकर परिवेश में जी रहा था। लोग उनकी सूरत भी देखने से बचना चाहते थे। धार्मिक अधिकारों का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इन जातियों का मंदिर आदि पवित्र स्थलों में प्रवेश वर्जित था। वह नगरों की बाहरी सीमाओं पर रहते थे और आवश्यक सेवा पूरी करने के बाद वापस अपनी सीमाओं में चले जाते थे।

इनके अपने देवी-देवता (प्रकृति पूजा) पुरोहित (भगत) तथा रीति-रिवाज थे। तथाकथित उच्च जातियों का इनसे केवल श्रम का संबंध था। इसके अतिरिक्त वे उन्हें कभी न पूछते थे। ऐसे कठिन समय में ये दलित जातियां उन धर्मों की ओर आकृष्ट हुई जो इन्हें बराबरी का दर्जा देते थे। वे धर्म और उनके मतावलंबी इनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं करते थे। इसी के परिणामस्वरूप इनमें से बहुलांश ने धर्म परिवर्तन किया। वे मुसलमान तथा ईसाई बने। आलोच्य कृति में भी दलित (मेहतर) विभिन्न धर्मावलंबी दिखाए गए हैं। किंतु यह भी सही है कि इनके आपस में व्यवहार पूर्ववत् ही रहे। इन

धर्म-परिवर्तनों के फलस्वरूप हिन्दुओं की संख्या भारत में घटने लगी। अत: धार्मिक सुधार आरंभ हुए जिन्होंने इनके धर्म परिवर्तन को रोकने का प्रयास किया। भंगी जाति को वाल्मीकि ऋषि के वंशज दिखाकर उनमें हिन्दुत्व की भावना को भरा जाने लगा। उन्हें वाल्मीकि उपनाम लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। जबकि वास्तविकता सभी को ज्ञात है कि वाल्मीकि निषाद जाति के थे। किंतु फिर भी ये कोशिशें चलती रहीं और कुछ सीमा तक वे सफल भी रहे।

नागर जी ने भी इस उपन्यास में धर्म-परिवर्तन के विरोध में जमकर लिखा है। वे भी मेहतर समाज को शिव के वंशज बताने में नहीं चूके हैं। वे शिव को सबसे बड़ा भंगी मानते हैं। वे मेहतरों को पराजित राजपुत्र अथवा राजकुलों के वंशज मानने में भी कोई संकोच नहीं करते। वे धर्म-परिवर्तन करने के खिलाफ ही नहीं हैं बल्कि इसके विरूद्ध अनेक ऐसे उदाहरण देते हैं जिसका कुल तात्पर्य धर्म परिवर्तन से भी गति न सुधरने से होता है। ''हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ऐसी कौन सी भारतीय जाति है जो अपने आपको मेहतरों से ऊंचा नहीं समझती और जो उन्हें छूने से घिनाती नहीं है। ... मैंने धर्म-परिवर्तन करनेवालों को प्राय: सुखी नहीं देखा। गीता में शायद सच ही लिखा है कि अपने धर्म में रहकर मौत भी भली है और पराये धर्म का जीवन भयावह है।'' [91]

मनुष्य का धर्म उसे विरासत में मिलता है। किंतु विवाह की ही भांति धर्म भी उसका नितांत व्यक्तिगत मामला है। वह किस धर्म का वरण करना चाहता है; यह उसकी अपनी स्वतंत्रता है। प्रत्येक मनुष्य जीवन के मूलभूत अधि कारों की तो अपेक्षा करता ही है। वह अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत भी रहता है। यदि इसी क्रम में वह दूसरे धर्म में अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक उन्नति देखता है, तो उसे निश्चय ही धर्म-परिवर्तन का अधिकार होना चाहिए। परन्तु नागर जी दलित जातियों के धर्म-परिवर्तन को अनुचित ठहराते हैं। यह तथ्य उपन्यास में कई स्थलों पर आया है। उपन्यास की मुख्य चरित्र निर्गुण स्वयं देवता स्वरूप पादरी एण्डरसन के प्रेम में पड़ने के बाद भी अपने धर्म की मौत को लाख दर्जे बढ़िया मानती है। ''साहब कहते, निर्गुनियां क्रिस्चैन बनो। मेरे मन में फट से मोहन की बात उभर आए जो उसके मामू ने बतलाई थी। पराए धर्म की मौत भयावनी होती है। उससे तो अपने धरम की मौत लाख दर्जे अच्छी होती है। नाना की बात भी याद आए। गीता का श्लोक सुनाते थे - सुधरमे निधनम् सरेयह, परधरमो भयावहा।'' [92]

यही नहीं उपन्यास के दलित पात्र भी धर्म-परिवर्तन के खिलाफ दिखाए गए हैं। मोहना स्वयं ईसाई हो जाना चाहता था, पर उसके मामू उसे ऐसा करने से रोकते हैं। वह निर्गुण के सम्मुख अपनी जाति बदलने के लिए कहने पर भी नाराज हो जाता है। नागर जी धर्म-परिवर्तन के पक्ष में क्यों नहीं हैं ? क्या यह भंगी को भंगी (दलित को दलित) बनाए रखना नहीं है ? क्या वे तर्कों द्वारा हिन्दुत्व की रक्षा करने का उपक्रम नहीं करते ? धर्म की आलोचना वे सुन नहीं पाते। निर्गुण मोहन में थोड़ी बहुत दलित चेतना दिखाई गई है किंतु उनकी यह चेतना नागर जी को चिढ़ा जाती है। "होगी अम्मां, और मैं कहता हूं कि अगर जातों पर ही ऊंच-नीचपन का ढांचा खड़ा करना हो तो हमारे पुरखे महर्षि वाल्मीकि जी सबसे ऊंची जाति के थे। तुलसीदास हो या कोई दास हो, सब उसी ग्रेट जीनियस के प्रसाद की जूठन-कूठन ही है।

मुझे अब कुछ-कुछ बुरा लगने लगा था। पढ़े-लिखे लोगों में यह सड़क छाप विद्रोह और जीवन दर्शन मुझे चिढ़ा देता है। मैंने कहा रामकथा वाल्मीकि जी की भी बपौती नहीं है निर्गुण मोहन जी। " [93]

किंतु निर्गुण मोहन की पत्नी नीलम द्वारा प्रतिक्रियावादी का आरोप लगते ही वे तुरंत संभल जाते हैं। वे पैंतरा बदल कर समस्या का ही उदात्तीकरण कर देते हैं। "नहीं बेटी मुझे महान पुरुषों की बेतुकी आलोचनाएं चिढ़ा जाती है। वाल्मीकि हो या तुलसीदास या बुद्ध, मोहम्मद, ईसा हो, ये किसी जाति, किसी देश, किसी वर्ण के नहीं हैं। रामचरितमानस हो या बाईबिल, कुरान ये सभी पवित्र ग्रंथ 'सुरसरि सम सब कर हित' करने वाले हैं।" [94]

इसी तर्क सरणि से क्या कृष्ण और कबीर, रैदास और राम भी एक ही है और सभी वर्ण-धर्मों के लोग बराबर हैं। क्या अश्वघोष कृत वज्रसूची भी उसी तरह पवित्र है ? नागर जी बाइबिल, कुरान के समकक्ष रामचरितमानस को क्यूंकर मान सकते हैं ? रामचरितमानस एक काव्यकृति है उसमें ऐसा क्या पवित्र है? फिर वे डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के धर्म-परिवर्तन के मुद्दे पर निर्गुण मोहन को दल-बदलू की तर्ज पर धर्म-बदलू क्यों कहते हैं ? क्या यह परंपरावादी ब्राह्मण मन नहीं है ? क्या इसी का प्रतिफलन उपन्यास में नहीं हुआ है ? नागर जी ने गांधी और आर्य समाज के सुधारों को अपने उपन्यास में बहुत महिमा मण्डित किया है किंतु वे बाबासाहेब अम्बेडकर के पक्ष में एक बार भी नहीं बोलते।

डॉ. रामवचन राय भी इस ओर इंगित करते हुए लिखते हैं, "पूरे उपन्यास में अछूत समस्या के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर का कोई उल्लेख नहीं है। जबकि उपन्यास का कथानक जिस कालखण्ड से संबंधित है, उसमें अम्बेडकर भंगी समाज की समस्याओं को लेकर देशव्यापी आंदोलन चला रहे थे। उपन्यास में किसी भी पात्र के मुंह से अछूतोद्धार के संबंध में अम्बेडकर की चर्चा नहीं हुई है।" [95] डॉ. अम्बेडकर का एकमात्र संदेश था कि भंगी की मुक्ति इसी में है कि वह यह गंदा कार्य छोड़ दे। जहां तक सफाई का काम है, लोग स्वयं इसका इंतजाम कर लेंगे। जिन देशों में भंगी की तरह गंदगी साफ करने वाली जातियां नहीं हैं, क्या वे देश गंदगी से भर गए हैं ? नहीं, वे अधिक साफ हैं क्योंकि हर व्यक्ति स्वयं साफ रहने तथा सफाई रखने की जिम्मेदारी महसूस करता है। 1942 में डॉ. अम्बेडकर वाइसराय की काऊंसिल से लेबर मेम्बर बने। उस समय दिल्ली में सफाई कर्मचारियों की कोई यूनियन नहीं थी। नई दिल्ली म्युनिसिपल कर्मचारी संघ की स्थापना उन्हीं के कार्यकाल में हुई।

डॉ. अम्बेडकर के दर्शन और विचारों से दलित और दलित साहित्य प्राण ऊर्जा पाता है। वह उनके विचारों में अगाध श्रद्धा रखता है। नागर जी अप्रत्यक्ष रूप से डॉ. अम्बेडकर की निंदा करते हैं। क्या यह दलित जीवन का प्रामाणिक सच हो सकता है ? क्या ऐसा समाज जो हिन्दू धर्म में दमन झेल रहा हो उसे छोड़कर भाग नहीं जाना चाहता होगा ? जब उन्हीं के ईसाई और मुसलमान सगे-संबंधी धार्मिक अधिकारों का प्रयोग करते होंगे, तो क्या वे भी धर्म-परिवर्तन नहीं करना चाहते होंगे ? ईसाई बनने वाले सभी मेहतरों ने भंगी का कर्म छोड़ दिया था, यह सामाजिक सत्य है। ईसाई धर्म ने उन्हें मूलभूत सुविधाएं भी प्रदान कीं जिनमें शिक्षा और पादरी बनने के अधिकार भी थे। फिर वे क्यों धर्म परिवर्तन न करते ? परंतु नागर जी इन सब प्रश्नों पर मौन हैं।

नागर जी ने इस उपन्यास में जीवन के विविध रंगों तथा उन रंगों के भीतर छिपे सप्तरंगों को बखूबी अपनी ब्रश से दिखाया है। परंतु वह जीवन सवर्णों का है उसके रंगों की आभा सवर्णों के जीवन की है। वहां उनकी खिलखिलाहट, कसमसाहट, किलकारियां और चिल्लाहट है, परंतु उपन्यास में उल्लिखित 'दलित समस्या' ही नदारद है। चरित्र चित्रण में भी नागर जी का पक्षपात दिखाई देता है। वास्तव में निर्गुण के प्रति नागर जी उपन्यास के आरंभ से एक 'पोज' लेकर चले हैं। उनकी यह मुद्रा उपन्यास के अंतिम वाक्य तक जाती है। क्या वे निर्गुण

के तेजोमयी व्यक्तित्व तथा संघर्षमयी जीवन से अभिभूत है या वे ब्राह्मणी निर्गुण के जीवन पतन से करुणा कलित हैं ? वे निर्गुण के प्रति बहुत अधिक चिंतित भी दिखाई देते हैं। वहीं दलित पात्रों के प्रति उनकी कोई चिंता नहीं है। निर्गुण को वे पैंतरा बदल-बदलकर सती की तरह महिमा मंडित करने में लगे हैं।

''मैंने शराबिन बुढ़िया को समाधि की मुद्रा में देखा।'' ऐसे ही एक अन्य वे लिखते हैं, '' कहते-कहते लगा कि निर्गुनिया जी अपने द्वारा बोले गये शब्दों की गूंज में आप ही समा गई है। झरने का पानी मानो नीचे गिरते-गिरते एकाएक ऊपर को चढ़ रहा था। एक शराबिन की आंखें ध्यानलीन योगी की तरह लगने लगी। एक अन्य स्थान पर वे उन्हें स्पष्टत: सती करार देते हैं।'' मैं आपके भीतर वाली पीड़ा को अब ठीक तरह से पहचान सकता हूं। निर्गुनियां जी। सच पूछा जाये तो आप अपने भीतर प्रेम की परिभाषा ढूंढ रही थी। आपके भीतर एक सती थी और एक कामपीड़िता नारी भी।'' परंतु वे यह निष्कर्ष किस आधार पर निकालते हैं, पाठक को समझ में नहीं आता। 'सती' बनने की ललक वाली वही निर्गुण अगले अनुच्छेदों में पादरी एण्डरसन के प्यार में उसकी बाहों की गिरफ्त में दिखाई देती है। नागर जी का यह निष्कर्ष उनकी सांस्कारिक व्यथा है। ''मोहन की सती मोहन की स्मृतियों में डूबकर अपने सारे पापों को पुण्य में बदल लेती थी।'' उपन्यास के आद्यान्त अध्ययन के बाद भी इसके पीछे कोई कारण समझ नहीं आता ? क्यों नागर जी एक व्यभिचारिणी, पतिता स्त्री को सती सिद्ध करना चाहते हैं ? यह स्त्री-मुक्ति अथवा स्वातंत्र्य का प्रश्न भी नहीं है। नैतिक मूल्यों के विघटन से समाज विघटित होता है। समाज के टूटने से 'जंगलराज' कायम होता है, जिससे 'सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट' का सिद्धांत लागू हो जाता है।

इस दुराचार के महिमामंडन के पीछे नागरजी का क्या उद्देश्य है ? वे निर्गुण को 'वली' तक मानने को तैयार है; यानि उसकी सारी पथभ्रष्टता तथा आवारगी को वे 'सूफी' के जामे में डाल देना चाहते हैं। ''अड़तीस-चालीस-बरस पहले निर्गुनियां का अविवेकी मन भी जाग्रत सुप्त अवस्था में अपने जी का मरम लिखने से पहले गोसाई जी के शब्दों में ही हंसिनी बनकर नीर-क्षीर विवेक के लिए पुकारता है। शायद इसी प्रकार के आग्रह से ही उसे यह वर्तमान व्यक्तित्व मिला है। पतन में उत्थान, प्रसुप्ति में जागरण इसी को कहते हैं। वाह री निर्गुनियां - तुझे हम वली समझते जो न वादाख्वार होती।'' [96] निर्गुण को वली

समझने मानने के लिए नागर जी तैयार हैं परंतु वे उसके सीमोल्लंघन को माफ नहीं कर पाते। क्या यह लक्ष्मण-रेखा ब्राह्मण धर्म की दहलीज से पार जाना नहीं है ?

'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास बहुत ही सुनियोजित ढंग से लिखा गया है। नागर जी सुबरातिन माई द्वारा ब्राह्मणी निर्गुण को सुअर का मांस पकाने के लिए जिद करते हुए दिखाते हैं। क्या यह दलितों की मानसिकता का सच्चा चित्रण किया गया है ? सामान्यत: हिन्दू समाज में तथाकथित निम्न जाति के घरों में आज भी यदि ब्राह्मणी बहू बनकर आ जाती है, तो उसे विशेष आदर-सम्मान मिलता है। यह भारत का सामाजिक सत्य है। भारत की तथाकथित निम्न जातियों में ब्राह्मण जाति के प्रति अत्यंत आदर भाव रहा है। आलोच्य कृति में जिस समय का वर्णन किया जा रहा है, तब तो ब्राह्मण देवता की तरह पूजे जाते थे। मामू निर्गुण से हुक्का नहीं भराते। ''नई-नई, हम अपना काम आपई करेंगे भाई। तुम कुछ भी हौगी पर ब्राह्मणी हौगी। '' [97] परंतु वही मोहना और माई उससे मैला उठवाने की जिद करते दिखलाए जाते हैं। वास्तव में यहां समाज का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया है बल्कि अपने उद्देश्य को पूरा करने का ही उपक्रम दिखाई देता है। इस प्रसंग के माध्यम से वे सुबरातिन माई और मोहना को विलेन बना देते हैं। मामू निर्गुण के हमदर्द दिखाए जाते हैं और उनकी हमदर्दी में भी नागर जी उनके 'भगत' होने और 'मांस न खाने' के पैबन्द सी देते हैं।

''औ मामू तुम्हाए भगत हैंगे। कहीं उनके आगे मत परोसना। रोटियां और आलू का सूखा बना लेना।'' [98]

क्या यह सनातनी पाखण्ड का चित्र नहीं है ? निर्गुण के मैला कमाने के प्रसंग को भी वे चतुराई से छिपा जाते हैं। सुअर का मांस पकाने-खाने तथा मैला कमाने के चित्रण उपन्यास में मार्मिक स्थिति उत्पन्न कर सकते थे। पाठक का मन खिन्न हो जाता। परंतु नागर जी को यह अभीष्ट नहीं है। ''ऐ बाबूजी, अरे क्या मैले की गंध सूंघोगे मेरी बातों से ? कहां का पचड़ा लगाया। कह तो दिया कि जब इंसान के आगे बस एक ही रास्ता रह जाता है, तब जिसे आप असंभौ कहते हैं, वह सहज संभौ हो जाता है। एक दिन, दो दिन, तीन दिन-दिन बीतते गए। मैं नए जनम की आदत में जादे से जादे ढलती गई। पुराने जनम की हिचक दूर होती गई। वो सब आपको नहीं सुनाऊंगी। न उसे सुनाने की मेरी

इच्छा है।'' [99] इसी तरह निर्गुण को मोहना द्वारा शराब पिलाते दिखाया जाता है। उपन्यास के आरंभ से अंत तक वह धाकड़ पियक्कड़ दिखाई गई है। शर्मा जी उसके पीने की क्षमता देखकर दंग रह जाते हैं। परंतु शराबखोर ब्राह्मणी निर्गुण मांसाहारी नहीं दिखाई जाती। क्या सुअर पकवाने की जिद करने वाले ने मांस खाने की जिद न की होगी ? परंतु उपन्यास इस संबंध में मौन है।

नागर जी ने स्वयं कई स्थानों पर स्वीकारा है कि वे धर्म के आडम्बर के विरुद्ध हैं। परंतु निर्गुण के माध्यम से वे एकाधिक बार इन्हीं के लिए आग्रही दिखते हैं। उपन्यास में निर्गुण दो-तीन बार तुलसी जयंती के धूमधाम से मनाने का जिक्र करती है। निर्गुण के नाना व्यास जी का वर्णन करते हुए भी लेखक गद्‌गद् हो लिखता है कि वे बड़े शुद्ध आचार-विचार वाले तपस्वी थे। उसके यह नाना शिवपुराण, गरूड़ पुराण, भागवत और गुसाई जी की रामायन (वाल्मीकि की नहीं) भी खूब बांचते थे। वे गंगाजल ही पीते थे। एक रखैल के यहां रात रुकने पर निर्गुण के प्रति उनके शुद्ध आचार-विचार और तपस्वीवन की एक बानगी दखिए। ''घर के दरवज्जे पर मैंने अपने मामा के द्वारे पर आते देखा। उन्होंने मुझे दरवाजे पर ही खड़े रहने को कहा। बहली वालों को अपनी टेंट से पांच रुपै निकालकर इनाम दिए और फिर एक गगरी पानी लाकर मेरे सिर पर उंडेल दिया। यों भौंचक्की सी भीगी हुई मैं घर में आई। नानाजी ने मुझसे पूछा, ''वहां कुछ खाया-पिया भी था ? मैंने सहजभाव से सकार दिया। उसका दण्ड भी भोगना पड़ा मुझे घी पिलाकर कै उल्टी कराई गई। शायद पंचगब्ब भी खिलाया गया था।'' [100]

यह कोई छोटी घटना नहीं है। हिन्दू धर्म में श्मशान में दाहसंस्कार करने के पश्चात् वहां उपस्थित लोग अपवित्र हो जाते हैं, अत: घर आकर उन पर गंगाजल छिड़ककर पवित्र किया जाता है। निर्गुण को रातभर जिस रखैल (पतुरिया) ने इतनी इज्जत और आवभगत से रखा, क्या वह श्मशान-भूमि की तरह अपवित्र थी ? वास्तव में इस उपन्यास में दलितों के साथ-साथ स्त्रियों को भी अपमानित किया गया है। निर्गुण का महिमामंडन अपने आप में स्त्रियों का अपमान है। जबकि दलित साहित्य में स्त्रियों की अस्मिता और सम्मान की रक्षा की जा रही है। इसमें सवर्णों के जीवन, रीति-रिवाज, संस्कार और मान्यताओं का चित्रण ही प्रामाणिक रूप से हुआ है। विस्मय की बात यह है कि इनका चित्रण आक्षेप के रूप में न होकर आत्म विभोर होकर किया गया है।

क्या निर्गुण दलित समाज की प्रवक्ता बनती दिखाई देती है ? क्या वह पूर्णत: दलित समाज को स्वीकार कर लेती है ? इस उपन्यास में कलम की कलाबाजियां दिखाकर निर्गुण को दलित समाज की प्रवक्ता बनाने की पूरी कोशिश की गई है। लेकिन हर बार लेखक और निर्गुण का जातीय अहम का सर्प सामने आ जाता है। दलित समाज से नायिका का कोई सरोकार नहीं है। वह तो बस मोहना के साथ अपने शरीर की भूख मिटाने के लिए ही उसके साथ भागी थी। दलित समाज के लोगों के बीच रहते हुए भी वह केवल अपने बेटे को ही पढ़ाती है। अपनी बेटी को वह पादरी एण्डरसन को सौंप देती है जिसे वह अमेरीका में पढ़ाता है। दलित समाज के अन्य लोगों में उसने किसी और को भी पढ़ाया हो, ऐसा कोई चरित्र सामने नहीं आता है। वह चरित्रहीन तो है ही, धूर्त भी है। वह कभी भी सच्चे मन से दलित समाज को स्वीकार नहीं कर पाती। उसकी अपनी बेटी भी उसे 'अस्पृश्य' और पाप लगती है। वह पहले ब्राह्मणी है, उसके बाद कुछ और। वह सांस दर सांस याद रखती है कि वह ब्राह्मणी है। लेखक के घर पहुंचते ही, सर्वप्रथम उसे ठाकुर बाड़ी याद आती है। वहां से विदा होते हुए वह कहती है, "ऐसा लगता है कि मैं अपने पिछले जन्म के घर आई थी, अब जा रही हूं।" [101]

वह शर्मा जी के घर में ठाकुरद्वारे के दर्शन करने के पश्चात बहुत प्रफुल्लित और संतुष्ट हो जाती है। "आज आपने मुझे मेरा खोया धन दे दिया।" [102] इस दृश्य में नागर जी की वर्ण-व्यवस्था विषयक विचारधारा भी स्पष्ट हो जाती है। ये 'एकदा नैमिषारण्य' उपन्यास में कहते हैं कि जाति जन्मना नहीं बल्कि कर्म और आचार से प्राप्त होती है। परंतु यहां वे निर्गुण से शर्माजी और उनकी पत्नी के पैर छुवाते दिखाते हैं जबकि वे दोनों उम्र में उनसे छोटे हैं। पत्नी को मना करके वह कहती है, "बड़ा कोई उमर से नहीं, अपने भीतर के तेज से होता है। आप मुझसे बड़ी हैं।" [103] यह 'तेज' क्या है और किनकी सम्पत्ति है ? यह विचारणीय प्रश्न है।

क्या निर्गुण दलित मोहना की सती बनने का हक रखती है ? निर्गुण एक बदचलन और मदन-दीवानी स्त्री है। मोहना के डेढ़ साल तक न मिलने की अवधि में ही वह दारोगा बसंत लाल के साथ अपने पुराने संबंधों को ताजा करने चल देती है। वह बसंतलाल के माध्यम से अपनी हवस बुझाना चाहती थी, परन्तु लेखक ऐन मौके पर मोहना को पहुंचाकर उसके सतीत्व की रक्षा करता है।

दूसरी बार पादरी एण्डरसन के साथ वह अमरीका जाने का मन बना लेती है और उसके साथ शारीरिक संबंध बनाने को भी उतावली दिखती है, तभी फिर मोहना का आगमन उसे पतित होने से बचाता है। वास्तव में नागर जी स्वयं नहीं चाहते कि उनका यह पात्र अब किसी के साथ शारीरिक संसर्ग करे। इस तरह वे उसे सती बनाने का षड़यंत्र करते हैं। नागर जी स्वयं मानते हैं कि 'काम' मनुष्य की नैसर्गिक आवश्यकता है, फिर भी उसे 'सती' बनाने के पीछे उनका क्या उद्देश्य है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि नागर जी अपनी एकमात्र समस्या को लेकर चल रहे थे। दलितों का जीवन और उनकी समस्याओं का कोई वास्तविक चित्रण उपन्यास में नहीं मिलता है।

ब्राह्मणी निर्गुण दलित मोहना से आखिर तक प्रेम नहीं कर पाती। पादरी एण्डरसन जो भारतीय संदर्भ में 'यूरोपीय ब्राह्मण' ही है उसे आकर्षित करता है। वह पावन पुनीत व्यक्तित्व लगता है। वह उसकी जलती हुई जिंदगी का एक बड़ा फफोला था। अन्य छोटे फफालों में भी अधिकांश ब्राह्मण अथवा सवर्ण ही थे। यह उसका जातीय अभिमान ही था कि वह किसी दलित से प्रेम नहीं कर पाती। उसका प्रेम (जो कि मानसिक भाव है) केवल सवर्णों के लिए आरक्षित रहता है। इस सबके द्वारा नागर जी क्या सिद्ध करना चाहते हैं ?

उपन्यास में नागर जी ने मेहतर जाति के गोत्रों का ठाकुर जाति के गोत्रों से साम्य दिखाया है। यहां नागर जी का मंतव्य यह सिद्ध करना था कि वर्तमान मेहतर जातियां राजपूत जातियों के ही टूटे हुए निष्काषित अंक हैं। ध्यातव्य है कि खटीक नामक दलित जाति में अनेक गोत्र यथा नागर-पचौरी आदि ब्राह्मणों के गोत्रों के समान ही हैं। क्या इस जाति के लोग ब्राह्मण के निष्काषित अंग माने जाएं ? गूजर जाति में भी नागर गोत्र होता है, तब क्या वे इसी जाति के टूटे अंग हैं। एक अन्य दलित जाति धोबी का गोत्र कन्नौजिया भी ब्राह्मणों के गोत्र के समान है, क्या वे भी ब्राह्मणों के वर्तमान वंशज हैं ? नागर जी का यह समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण संदेहास्पद अधिक है, विश्वसनीय कम।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचना के आलोक में हम पाते हैं कि उपन्यास में दलित जीवन को सवर्ण दृष्टि से ही देखा गया है। सवर्णों की दृष्टि में दलित चोर, डाकू, लंपट, शराबी तथा उनकी स्त्रियां व्यभिचारिणी और पतिता होती हैं। इस उपन्यास में भी दलितों का चित्रण इसी रूप में हमें मिलता है। इसके निमित्त लेखक ने ऐसे चरित्रों, संवादों तथा परिस्थितियों का निर्माण भी किया है। लड्डन

की मां दुलारो तथा गुल्लन दाई का वार्तालाप हो या नब्बू और मोहन के समलैंगिक दोहन के मामले, वही दृष्टि उपन्यास में काम करती है। दलित साहित्य और साहित्यकारों पर सांचाबद्ध लेखन और 'पोज' लेकर लिखने के आरोप लगाए जाते हैं, परंतु क्या इस उपन्यास में लेखक 'पोज' (मुद्रा) लेकर नहीं लिखता है? निर्गुण को सती तथा उसके नाना को तपस्वी दिखाना तथा सुबरातिन को कुटांट दिखाना भी इसी तरह की दृष्टि का फलन है। इस उपन्यास में अधिकांश दलित चरित्र हेय या 'विलेन' दिखाए गए हैं। अतः हम कह सकते हैं कि 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में दलित जीवन के प्रामाणिक चित्रण के दर्शन नहीं होते हैं। निस्संदेह एक व्यभिचारिणी ब्राह्मणी को सती बनाने का सायास उपक्रम अवश्य दिखाई पड़ता है। जहां कोई पात्र दलित चेतना का वाहक बनने लगता है, और वह धर्म की आलोचना करने लगता है, लेखक को अपने सवर्णत्व को धमकी जैसा लगने लगता है।

प्रत्येक धर्म तथा समाज को अर्न्तमंथन तथा आत्म मंथन की आवश्यकता होती है। अपनी कमियों को स्वीकारने का साहस प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिए। इन खूबियों-कमियों के मंथन के पश्चात् ही शुद्ध तत्व की प्राप्ति होती है। एकपक्षीय या एकांगी दृष्टिकोण किसी भी व्यक्ति या समाज के हित में नहीं होता। वे सभी धर्मग्रंथ तथा महापुरुष जो विषमता के पक्षधर हैं - जागरूक एवं लोकतांत्रिक समाज को स्वीकार्य नहीं होने चाहिए। यदि व्यक्ति या समाज ऐसे ही धर्मग्रंथों या महापुरुषों को महिमामंडित करने का प्रयास करता है, तो उसका संदेह के घेरे में आना स्वाभाविक ही है। 'नाच्यो बहुत गोपाल' में ऐसे अनेक धर्मग्रंथों तथा महापुरुषों के यशोगान के हवाले हमें मिलते हैं जिन्होंने भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था जैसी घृणित व्यवस्था की पैरवी की है। साथ ही ऐसे अनेक महापुरुषों की अप्रत्यक्ष निंदा भी की गई है, जो समाज में बंधुत्व, समता और मानवता के बीज-वपन करना चाहते थे। इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप 'नाच्यौं बहुत गोपाल' उपन्यास में दलित समाज का सही चित्र उपस्थित नहीं हो पाया है। नागर जी की प्रगतिशीलता और आधुनिकता पर भी यह उपन्यास प्रश्न चिन्ह लगाता है। यह उपन्यास पाठक के मन में दलित जातियों के प्रति कोई सहानुभूति पैदा नहीं कर पाता, अपितु वह सवर्णों के मनोरंजन की वस्तु बन गया है। यह दलित जीवन का वास्तविक चित्र नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 अमृतलाल नागर, टुकड़े टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, पृ 13
2 वही, पृ 36
3 अमृतलाल नागर, जिनके साथ जिया, राजपाल प्रकाशन, पृ 143
4 अमृतलाल नागर, टुकड़े टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, पृ 214
5 वही, पृ 214
6 वही, पृ 215
7 वही, पृ 217
8 अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, पृ 131
9 डा. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, पृ 148
10 अमृतलाल नागर, टुकड़े टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, पृ 53
11 डा. सुदेश बत्रा - अमृतलाल नागर, व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धांत, पृ 3
12 वही, पृ 52
13 अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, पृ 119
14 अमृतलाल नागर, टुकड़े टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, पृ 219
15 मधुरेश, अमृतलाल नागर, व्यक्तित्व और रचना संसार, राजपाल प्रकाशन, पृ 170
16 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 23
17 मधुरेश, अमृतलाल नागर, व्यक्तित्व और रचना संसार, राजपाल प्रकाशन, पृ 170
18 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 67, 68
19 वही, पृ 67
20 संपादक शरद नागर - अमृत मंथन, पृ 82
21 डा. विजयमोहन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रेम की कल्पना, पृ 11
22 वही, पृ 23
23 डा. पुष्पा बंसल, अमृतलाल नागर, भारतीय उपन्यासकार, पृ 68, 69
24 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 67
25 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 68
26 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 72

27 हेमचन्द्र कौशिक, अमृतलाल नागर के उपन्यास, पृ 98
28 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 100
29 हेमचन्द्र कौशिक, अमृतलाल नागर के उपन्यास, पृ 110
30 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 323
31 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 323
32 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 323, 324
33 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 324
34 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 324
35 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 176
36 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 179
37 संपादक शरद नागर, अमृत मंथन, पृ 93
38 गायत्री लांबा, अमृतलाल नागर के साहित्य का मूल्यांकन, पृ 124
39 प्रेस रिपोर्ट, 18 सितम्बर 1948, भारतीय विद्या भवन, मुंबई
40 एम.के. गांधी, रिमूवल ऑफ अनटचेबिलिटी, पृ 201
41 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 307
42 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 317
43 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 110
44 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 24
45 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 317
46 मधुरेश, अमृतलाल नागर, व्यक्तित्व और रचना संसार, पृ 91
47 हिन्दी साहित्य का आठवां दशक
48 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 34
49 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 17
50 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 20
51 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 51
52 ममता कालिया - मनोरमा, जनवरी 79, पृ 31
53 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 68
54 अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, पृ 142
55 वही, 136
56 संपादक, शरद नागर, अमृत मंथन, पृ 171

57 वही, पृ 171
58 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 7
59 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 345
60 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 44
61 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, पृ 50
62 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 11
63 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 15
64 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 21
65 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 22
66 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 24
67 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 25
68 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 27
69 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 31
70 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 37
71 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 62
72 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 63
73 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 114
74 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 115
75 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 160
76 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 165
77 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 297
78 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 303
79 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 319
80 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 321
81 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 9
82 संपादक, शरद नागर, अमृत मंथन, पृ 171
83 वही, पृ 256
84 बिन्देश्वर पाठक, मुक्ति के मार्ग पर, मोतीलाल बनारसी दास, पृ 44
85 डा. बी. आर. अम्बेडकर, अछूत कौन थे, पृ 68
86 एडवोकेट भगवान दास, मैं भंगी हूं, पृ 10

87 महम्मद खडस, अरूण ठाकुर, नरक सफाई, पृ 24
88 वही, पृ 38
89 वही, पृ 40
90 वही, पृ 26
91 वही, पृ 35
92 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 325
93 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 316
94 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 316
95 धर्मयुग, 9 जुलाई 1978, पृ 21
96 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 195
97 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 81
98 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 62
99 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 310
100 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 45
101 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 31
102 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 36
103 अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ 29

निष्कर्ष

निष्कर्ष

भारतीय समाज में कोढ़ की तरह फैली जाति-व्यवस्था आधुनिक समाज पर एक कलंक ही नहीं, अप्रगतिशील होने का ठप्पा भी है। यह हजारों वर्षों से भारतीय समाज में जोंक की तरह भारतीय जनों का रक्त पीकर मुटियाती रही और समाज बेखबर रहा। यह बेखबरी गालिब के उस शअर की याद दिलाती है। '' ये बेखुदी बेसबब नहीं गालिब, कुछ तो है जिसकी पर्देदारी है।'' निस्संदेह परंपरावादी समाज ने दलित जनों की सुध लेने का कोई उपक्रम नहीं किया। वे अपनी सीमाओं में आरक्षित जीते रहे। एक ही समाज इतने वर्गों-उपवर्गों में बंट गया कि सभी की जिंदगी अपने कटघरे में समानांतर चलती रही। हजारों वर्षों तक दलित जंगलों और शहरों-ग्रामों में बसे अपने 'जंगलों' में जीवन व्यतीत करते रहे। वे शिक्षा से दूर किए गए। उन्हें असभ्य, चोर, अमानवीय कहा गया। परंतु वे ऐसे क्यों हुए और किनके चलते हुए; इस पर विमर्श नहीं हुआ।

भारी शास्त्रार्थ होते परंतु मूल प्रश्न हमेशा हाशिये पर रहता। यह भारतीय शिष्ट और सवर्ण समाज का पाखंड ही था। एक तरफ, आत्मा-परमात्मा विषयक बौद्धिक जुगालियां (जो भरे पेट जानवर करते हैं) और दूसरी ओर, एक दिन जीने का प्रश्न। यह विडंबना भारतीय समाज में हजारों वर्षों तक रही और शिष्ट, शिक्षित और सभ्य समाज ने उसकी सुध तक नहीं ली। ऐसे ही कठिन समय में कभी बुद्ध, कभी कबीर, रैदास और कभी डॉ. अम्बेडकर जैसे महापुरुष आकर इन दीन-दुखियों के हमदर्द बनकर उनके लिए लड़े।

जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में विवेचन किया है कि समाज समयानुसार परिवर्तित होता रहा है और इसी परिवर्तन से आबद्ध ये दुखीजन कभी शूद्र बने, कभी हरिजन और कभी बंधुआ श्रमिक। वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों में ये 'दलित' हैं। दलितों की राजनीतिक परिभाषा की परिधि में कौन लोग आते हैं, कौन नहीं, यह यहां अभीष्ट नहीं है। किंतु साहित्य में हम दलित उन सभी जनों को स्वीकार कर सकते हैं जो अन्याय, असमता और अमैत्री के विरोधी हैं और करूणा, मैत्री और समानता के पैरोकार हैं। जन्मना भेद स्वीकार करना पुनः उसी व्यवस्था को पोषण देना है, जिसके विरोध में दलित साहित्य का जन्म हुआ है। किंतु यहां पुनः यह स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि दृष्टि की ईमानदारी की अर्हता अनिवार्य रहेगी और उसका निर्णय वही जन करेंगे जिन्होंने उस पीड़ा के

दंश को व्यक्तिगत रूप में सहा है।

हिंदी में दलित साहित्य अभी बहुत पुराना नहीं है। दलित साहित्य का वर्तमान स्वरूप अपने प्राचीन स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। गद्य के क्षेत्र में अभी कुछ अपरिपक्वता तथा अपरिष्कार है। भाषा और शैली अर्जित गुण हैं। यह समय-सापेक्ष है। दलित साहित्यकारों की गद्य-रचनाओं की पहली खेप है। आगामी पीढ़ियों के साथ नई खेप आएगी। संभवत: वह अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होगी। परंतु इसके लिए सायास प्रयास और परिश्रम की आवश्यकता है जिसे दलित साहित्यकारों को समझना होगा।

नागर जी एक श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उनकी विद्वता साहित्य में जाहिर है। उनके उपन्यास इसकी जीती-जागती मिसाल हैं। उपन्यास लेखन उनके लिए शगल नहीं था। वे सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए भीतर से कहीं बाध्य थे। ऐसे महान उपन्यासकरों के लिए लिखना जीना होता है। वे सांसारिक सुखों की अपेक्षा नहीं करते। दुख उन्हें पथ से डिगाते नहीं हैं। वे अविचल-अटल अपनी कर्मस्थली में आजीवन डटे रहे। वे लिखते हैं, "दुर्भाग्यवश हमारा काम हमें गुजारे लायक पैसा नहीं देता फिर भी काम काम है और वह अपने लिए व्यक्ति की लगन चाहता है। मैं जब तक यह नहीं भूल सकता कि मैं लेखक हूं, तब तक उसके लिए लगन भी नहीं छोड़ सकता। लेखक बनकर कोई फिल्मी लेखन, रेडियो लेखन अथवा विज्ञापन लेखन का काम भले ही रोटी कमाने के लिए अपने ले पर उससे मन का काम करने का भरा-पूरा संतोष तो हरगिज प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए साहित्य लेखन का कार्य स्वाभाविक रूप से अपने लिए मुझसे प्रथम महत्व की मांग करता है।"[1] नागर जी की रचना-कुशलता निर्द्वद्व है। उनकी लेखकीय ईमानदारी भी अप्रतिहत है।

नागर जी का जन्म संस्कारशील एवं शिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ। उन पर सनातनी प्रभाव आजीवन रहे, परंतु वे रूढ़िवादी कभी नहीं रहे। वे धर्म में निष्ठा रखते थे। यह उनका व्यक्तिगत मामला था। साहित्यकार भी प्रथमत: सामान्य मनुष्य होता है। उसका भी एक परिवार और परिचय-परिसीमा होती है जहां वह प्रतिपल सांस लेता है। नागरजी सनातनी, रूढ़िवादी समाज में रहकर भी कुछ भिन्न अवश्य थे। भले ही यहां उनकी सीमा दिखाई देती है, परंतु उनका इतना सीमोल्लंघन भी प्रशंसनीय है।

वे जिस समाज में पले-बढ़े, उसकी रूढ़िवादिता और पाखंड पर निरंतर चोट करते। यह ठीक है कि भीतर ही भीतर उनके मध्य एक अदृश्य रागात्मक सूत्र अवश्य रहा। जिसके चलते उनके स्वर और आचरण में क्रांति के दर्शन नहीं हो पाए। परंतु इस सत्य को बिना हिचकिचाहट स्वीकार किया जा सकता है कि तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वे परंपरावादियों के साथ नहीं थे। निस्संदेह, वर्ग-वर्ण सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास उन्होंने अवश्य किया था। वे प्रगतिशील चेतना के साहित्यकार थे।

वे लिखते हैं, "सन् 1936 में लखनऊ के रिफाह-ए-आम क्लब में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन बड़ी धूमधाम से हुआ था। ... आर्यसमाज और गांधी के सामाजिक सुधारों ने रूढ़िवादी सनातन ढांचे को यद्यपि पूरी तरह से तो तोड़ा था, पर उसे जर्जर अवश्य कर दिया था। प्रगतिशील विचारधारा ने पुरानी सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं के गढ़ ढाने शुरू कर दिए। हमारे मनों पर तब यह बात साफ तरीके से उभरने लगी थी कि अमीर की दुनिया, उनका समाज, संस्कृति और साहित्य सब कुछ गरीब की दुनिया, उसके समाज, संस्कृति और साहित्य से एकदम अलग है। [2] नागर जी अपने वर्ग का अतिक्रमण करने का प्रयास अवश्य करते हैं। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास उसी अतिक्रमण का प्रतिफल है।

'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास बेहद रोचक तथा जीवंत दस्तावेज है। इस उपन्यास में ब्राह्मण वर्ग की एक स्त्री 'निर्गुण' की जीवन-व्यथा के माध्यम से 'काम' की अवधारणा पर साहित्यिक विमर्श करने का सफल प्रयोग किया है। यह उपन्यास जन्मगत संस्कारों की गहनता की भी पड़ताल करता है। नागर जी की अनुभवी दृष्टि से न तो पात्रों की कायिक चेष्टाएं बच पाई हैं और न ही मानसिक स्थिति। भाषा के मामले में तो वे अपना कोई सानी नहीं रखते हैं। अंशुधर शर्मा लेखक के ही प्रतिरूप का आभास देता है। वह बहुत हद तक प्रगतिवादी सोच और विचारधारा का है किंतु 'मैला ढोने' के प्रश्न पर वह भी अचकचा जाता है। वास्तव में मैला ढोना एक अमानवीय कृत्य है। कोई भी मानव ऐसे कृत्य को कर पाने में स्वयं ही अक्षम पाता है। ब्राह्मण जाति का मनुष्य ही नहीं कोई भी मनुष्य इसे स्वेच्छा से नहीं कर सकता। नागर जी यहां ये संदेश देने में सफल रहे हैं। परंतु इस संदेश के बावजूद उपन्यास में मूल समस्या 'काम' की ही रही। नागर जी ने ब्राह्मण और दलित (भंगी) का प्रयोग 'काम' की

तीव्र और प्रचण्ड दाहकता को सफलता से उकेरने के लिए ही किया है, इसके अतिरिक्त उनका कोई अभीष्ट नहीं है।

आलोच्य कृति में दलित जीवन के प्रामाणिक चित्रों की जहां तक बात है, वहां लेखक अपने तमाम प्रगतिशील आग्रहों के बावजूद असफल रहा है। यह असफलता उनकी लेखकीय प्रतिभा की ही नहीं, अपितु उनके सांस्कारिक समाज की भी है। दलितों का जीवन उनके अनुभव से बाहर था। इसीलिए उनके जीवन का चित्रण करने में वे चूक कर गए। वे उपन्यास में धार लाने के लिए आवश्यक तथ्य तो बटोर लाए हैं, परंतु उनका उचित उपयोग उचित प्रसंग में नहीं कर पाए। इसीलिए तथ्यों का उपयोग बेमानी हो गया है। ये कुछ ऐसे तथ्य थे जिनके माध्यम से उपन्यास में एक वैचारिक बहस की शुरूआत की जा सकती थी। संभवत: नागरजी को यह अभीष्ट नहीं था। उन्हें 'काम' की प्रचण्डता का चित्रण करना था, जिसके लिए वे आद्यांत चेष्टारत एवं सजग रहे। दलितों के जीवन के जिन चित्रों को उपन्यास में खींचा गया है, वे भी करूण कलित करने में असफल रहे हैं।

नागर जी का व्यवहारगत अंतर्विरोध कृति में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। ये विसंगतियां उनके पक्ष में नहीं जातीं। उपन्यास में व्यभिचारी स्त्री (निर्गुण) को नागर जी क्यों 'सती' बनाने पर कटिबद्ध हैं ? निर्गुण मोहना से अंत तक प्रेम नहीं करती, परंतु उसके शरीर का पूरा उपभोग करती है। इस अर्थ में क्या वह प्रेम रहित काम अर्थात् बलात्कार नहीं करती? वह एक बलात्कारी एवं कामुक स्त्री है। पुरुष ऐसा करते हैं इसलिए स्त्रियों को भी यही राह दिखाना आग को घी से बुझाना है। यह प्रवृत्ति समाज के लिए घातक है। अनुचित कार्य कोई भी करे, अनुचित ही रहता है। वह जाति, लिंग, धर्म के साथ परिवर्तित नहीं होता। यह अलग बात है कि धर्म अथवा समाज इसकी व्यवस्था किसी एक पक्ष में करके पक्षपात करें।

इस उपन्यास को यदि हम दलित साहित्य की मूल्य-अवधारणाओं के आलोक में देखें तो पाते हैं कि यह उपन्यास किसी भी दृष्टि से इसकी परिसीमा में फिट नहीं बैठता है। उपन्यास में सहानुभूति का पक्ष भी उपेक्षा एवं परिहास के समक्ष अशक्त है। उपन्यास में दलितों की योग्यता एवं प्रतिभा का ही मजाक नहीं उड़ाया गया है बल्कि उनकी इज्जत के साथ भी खिलवाड़ किया गया है। अनेक लतीफे उन पर गढ़े गए हैं। ये वही लतीफे हैं जो समाज में उन्हें बेइज्जत

करते हैं। नागरजी साहित्य में यह प्रक्रिया सायास शुरू करते हैं। अत: यह उपन्यास 'दलितों के लिए' श्रेणी (Literature for Dalit) में भी नहीं रखा जा सकता।

नागर जी बहुमुखी प्रतिभा संपन्न शिखर पुरुष थे। उनकी रचनाधर्मिता प्रखर एवं गहन थी। परंतु इस उपन्यास में दलितों की जिस तरह से उन्होंने खिल्ली उड़ाई है, उसके लिए दलित समाज इस उपन्यास को क्षमा नहीं कर सकता। क्या यह उपन्यास दलित विरोधी नहीं है ?

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अमृतलाल नागर, टुकड़े- टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, पृ 133
2. अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, पृ 136

सहायक ग्रंथ सूची

1. अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली,
2. अमृतलाल नागर, जिनके साथ जिया, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली,
3. अमृतलाल नागर, टुकड़े–टुकड़े दास्तान, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली,
4. अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, प्रकाशन, नई दिल्ली,
5. डा. अनीता रावत, अमृतलाल नागर के उपन्यासों में आधुनिकताए चन्द्रलोक प्रकाशन, 128/106, जी ब्लाक, किदवई नगर कानपुर
   208011, 1998
6. डा. बी.आर. अम्बेडकर, डा. अम्बेडकर (सम्पूर्ण साहित्य) खंड–5, डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय नई दिल्ली, 1999
7. डा. बी.आर. अम्बेडकर, डा. अम्बेडकर (सम्पूर्ण साहित्य) खंड–6, डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय नई दिल्ली, 1999
8. डा. बी.आर. अम्बेडकर, डा. अम्बेडकर (सम्पूर्ण साहित्य) खंड–7, डा0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय नई दिल्ली, 1999
9. डा. बी.आर अम्बेडकर एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, भीमपत्रिका पब्लिकेशन जालंधर
10. एड. भगवान दास, बाबा साहिब भीमराव अम्बेडकर और भंगी जातियां, दलित टुडे प्रकाशन, 18/455 इंद्रिरा नगर, लखनऊ
    22016,1998
11. एड. भगवान दास, मै भंगी हूं दलित प्रकाशन, 18/455 इंद्रिरा नगर, लखनऊ
    22016,1998
12. एड. भगवान दास, बाबा सहिब भीमराव अम्बेडकर एक परिचय एक संदेश दलित टुडे प्रकाशन, 18/455 इंद्रिरा नगर, लखनऊ
    22016,1998
13. बिन्देश्वर पाठक, मुक्ति के मार्ग पर, मोतीलाल, बनारसीदास प्रा. लि. दिल्ली.1998
14. बेबी कांबले, जीवन हमारा, किताबघ्ज्ञर नई दिल्ली.1995
15. दया पवार, अछूत, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2/38, दरियागंज, दिल्ली, 1998
16. गायत्री लांबा, अमृतलाल नागर के साहित्य का मूल्याकंन प्रकाशन
17. हेमचन्द्र कौशिक, अमृतलाल नागर के उपन्यास प्रकाशक
18. संपादक कंवल भारती, दलित जन उभार, बी.एम.एन. प्रकाशन लखनऊ
19. महम्मद खडस, अरूण ठाकुर, नरक सफाई, राधा कृष्ण प्रकाशन दिल्ली
20. मधुरेश, अमृतलाल नागर व्यक्तित्व और रचना संसार, राजपाल प्रकाशन दिल्ली. 2000
21. डा. नरेन्द्र सिंह, दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया, प्रकाशन
22. नागेश राम त्रिपाठी, अमृत लाल नागर के उपन्यासों का समाज शास्त्रीय अध्ययन, वेशाली प्रकाशन

गोरखपुर 1993
23. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, हिन्दी दलित साहित्यः रचना और विचार आतिश प्रकाशन 1997
24. पुष्पा बंसल, अमृतलाल नागर भारतीय उपन्यासकार, प्रकाशन
25. डा. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द्र और उनका युग, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1993
26. संपादक रमणिका गुप्ता, दलित चेतना साहित्य, नव लेखन प्रकाशन हजारीबाग
27. संपादक रमणिका गुप्ता दलित चेतना सोच, नव लेखन प्रकाशन हजारीबाग
28. रमणिका गुप्ता, दलित चेतना, साहित्यिक एव सामाजिक सरोकार, शिल्पायन, शाहदरा, 2000
29. संपादक सदानन्द शाही, दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेम चन्द्र, प्रेम चन्द्र साहित्य संस्थान, प्रेम चन्द्र पार्क, गोरखपुर
30. डा. सुदेश बत्रा, अमृतलाल नागर, व्यक्तित्व कृतित्व एव सिद्धांत पंचशील प्रकाशन, फिल्म कालोनी, जयपुर, 302003, 1984
31. सूरज पाल चौहान, हेरी कब आएगा, अनुभव प्रकाशन ई. 28 लाजपत नगर साहिबाबाद गाजियाबाद 1999
32. डा. शरण कुमार लिंबाले, अक्करमाशी, ग्रंथ अकादमी नई दिल्ली 1997
33. डा. शरण कुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2000
34. संपादक डा. शरद नागर, अमृत मंथन, किताब घर, नई दिल्ली
35. सिद्धि जोशी, अमृतलाल नागर के उपन्यासों में सामाजिक चेतना प्रकाशन
36. संपादक शम्भुनाथ, समकालीन सृजन जातिवाद और रंगभेद, वाणी प्रकाशन

पत्र–पत्रिकाएं

1. दैनिक हिन्दुस्तान
2. हंस
3. जनसत्ता
4. कल के लिए दिसम्बर 1998
5. कथाक्रम
6. मनोरमा
7. न्याय चक्र फरवरी–मार्च 1992,
8. राष्ट्रीय सहारा,
9. तद्भव अक्टूबर 2000,
10. सारिका आदि।

Jawaharlal Nehru University Library